योग विज्ञान प्रदीपिका
ओ३म
डा. विजयपाल शास्त्री
2012
विजय-यो

पुस्तक परिचय

'योग विज्ञान प्रदीपिका' योगसम्बन्धी प्राप्त अन्य पुस्तकों से भिन्न अपना विशिष्ट महत्त्व रखती है। इसकी विषयवस्तु व्युत्पन्न विद्वान् तथा साधारण योग जिज्ञासु दोनों के लिए समानरूप से उपयोगी है इसकी प्राञ्जल भाषा और प्रौढ़ शैली विद्वानों का भी आवश्यकता को पूर्ण करेगी। इसकी समग्र सामग्री पातंजल योग सूत्र और व्यासभाष्य पर आधारित हैं। योग की विस्तृत परिभाषा, चित्त और उसकी वृत्तियों का विशाद स्वरूप, चित्त की स्थिरता के विभिन्न उपाय, ईश्वर का योग दर्शन सम्मत स्वरूप, कर्मसिद्वान्त, विभूतियों की विस्तार पूर्वक व्याख्या समाधि के भेद तथा कैवल्य का सर्वागीण विवेचना इस पुस्तक के मुख्य प्रतिपाद्य विषय हैं।

आजकल योगविषय विश्वविद्यालयों और महाविद्यालयों की परीक्षाओ में प्रचलित है। प्रायः परीक्षार्थी वर्ग अपनी पाठ्यसामग्री एकत्र प्राप्त नही कर पाता । यह पुस्तक उनको भी लाभान्वित करेगी। पाठकवृन्द की सन्तुष्टि ही लेखक की सम्पत्ति है। पुस्तक के अन्त में पातञ्जल योग सूत्र, हिन्दी और अंग्रेजी अनुवाद के साथ जोड़ दिया गया है ताकि सन्दर्भ के लिये पाठकों को प्रतीक्षा न करनी पड़े। इस कारण यह पुस्तक और भी अधिक महत्वपूर्ण हो गयी है।

ISBN -81-88134-57-0
मूल्य : 395.00

योग विज्ञान प्रदीपिका

पातञ्जल योगसूत्र मूल हिन्दी अंग्रेजी अनुवाद सहित

लेखक
डा० विजयपाल शास्त्री
प्रोफेसर दर्शन विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार

सत्यम् पब्लिशिंग हाऊस
नई दिल्ली-110059
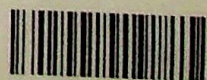
आमुख

पुरुषार्थसिद्धि का सर्वशास्त्रसम्मत मार्ग है योगसाधना। विभिन्न दर्शनशास्त्रों में प्रमाणमीमांसा और तत्त्वमीमांसा की मान्यताओं में थोड़ा बहुत मतभेद हो सकता है किन्तु मोक्ष के लिए योगसाधना की उपादेयता में किसी का कोई वैमत्य नहीं। न्याय और सांख्य तथा शांकर वेदान्त तत्त्वज्ञान से मुक्ति स्वीकार करते हैं, वैष्णव दर्शन भक्ति को मोक्ष के लिये अनिवार्य उपयोगी मानते हैं और मीमांसक कर्म से निःक्षेयस स्वीकार करते हैं। किन्तु योगसाधना पूर्वोक्त तत्त्वज्ञान भक्ति और कर्म तीनों के लिये उपयोगी है। योगसाधना के बिना न तत्त्वज्ञान प्राप्त हो सकता है और न ही भक्ति हो सकती है और न ही कर्म का सम्पादन हो सकता है। चित्त की एकाग्रता के बिना तो कुछ भी सम्भव नहीं। जिस प्रकार भाषा के ज्ञान के लिये पाणिनीय व्याकरण सर्वशास्त्रोपकारक माना जाता है, प्रमाणज्ञान के लिये न्यायशास्त्र सर्वदर्शनोपकारक माना जाता है उसी प्रकार पंतजलिप्रणीत योगसूत्र समस्त मोक्षाभिलाषियों का उपकारक स्वीकार किया जाता है।

काणादं पाणिनीयं च सर्वशास्त्रोपकारकम्।

शास्त्र पद का प्रयोग योगविद्या के लिये अधिक सार्थक सिद्ध होता है। शास्त्र उसी को कहा जाता है जो शुभ कार्य में प्रवृत्त कराये और निषिद्ध कर्मों से निवृत्त कराये। श्लोकवार्तिक में कहा गया है-

प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा नित्येन कृतकेन वा।
पुंसां येनोपदिश्येत तच्छास्त्रमभिधीयते।।

योगशास्त्र से बड़ा कोई प्रवृत्तिनिवृत्तिबोधक अन्य नहीं हो सकता। यह शास्त्र दुःखहेतुरूप क्लिष्ट वृत्तियो से निवृत्त करता है तथा क्लिष्ट वृत्तियों का नाश करने वाली अक्लिष्ट वृत्तियों में प्रवृत्त करता है। मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा ये चार अक्लिष्ट वृत्तियाँ हैं जो क्लिष्ट वृत्तियों का निरोध करने में सहायता करती हैं और अन्त में सर्ववृत्तिनिरोधरूप असम्प्रज्ञातयोग को सिद्ध करती हैं। सर्ववृत्तिनिरोधरूप योग ही पुरुषार्थसिद्धि का साधक है।

यूँ तो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के भेद से पुरुषार्थ चार प्रकार का माना गया है किन्तु विचार करने पर एक ही पुरुषार्थ सिद्ध होता है- सुख। सुख सभी का लक्ष्य है। दुःख किसी को अभीष्ट नहीं। पुरुषैः अर्थ्यते इति पुरुषार्थः - पुरुष जिसकी कामना करे वही पुरुषार्थ है। सुख की कामना सभी

करते हैं। अतः सुख ही एक पुरुषार्थ है। धर्म का अनुष्ठान सुख के लिये ही किया जाता है। अर्थोपार्जन भी सुख के लिये किया जाता है तथा काम की पूर्ति भी सुख के ही लिये है। मोक्ष तो सुखस्वरूप ही है। इसलिये मोक्ष ही एक पुरुषार्थ है। धर्म, अर्थ, और काम तो मोक्ष अथवा सुख के साधन हैं। वे स्वयं साध्य नहीं हैं। साधन और साध्य में अभेद मानकर धर्म, अर्थ और काम को भी पुरुषार्थ मान लिया जाता है, किन्तु वे गौण पुरुषार्थ हैं मुख्य नहीं। मुख्य पुरुषार्थ तो सुख ही है।

नित्य और अनित्य के भेद से सुख दो प्रकार का है। विषयरूप अर्थजन्य कामसुख अनित्य है तथा पुण्यरूप धर्म एवं तत्त्वज्ञान से जन्य मोक्षसुख नित्य है। कामरूप अनित्य सुख लोक में कुछ काल के लिये पुरुषार्थ मान लिया जाता है किन्तु वह मुख्य पुरुषार्थ नहीं है। वह क्षयिष्णु है एक दिन नष्ट हो जाना है। इसलिये सभी बुद्धिमान् मनुष्य नित्य मोक्ष सुख को ही चाहते हैं। अनित्य सुख को कोई नहीं चाहता। इसलिये मुख्य मोक्ष सुख ही वास्तविक पुरुषार्थ है।

मोक्षप्राप्ति का एक ही साधन है तत्त्वज्ञान। निष्काम कर्म से चित्त की शुद्धि होती है। शुद्ध चित्त में ही तत्त्वज्ञान प्रवेश कर सकता है। इसलिये निष्काम कर्म परम्परया मोक्ष का साधन है साक्षात् नहीं । साक्षात् साधन तो ज्ञान ही है।

जिस ज्ञान से मोक्ष होता है उस ज्ञान की उत्पत्ति शास्त्र से होती है। अपूर्व अर्थ के बोधक को शास्त्र कहा जाता है।

“शिष्यतेऽनुशिष्यतेऽपूर्वोऽअर्थो बोध्यते अनेनेति शास्त्रम्।”

इस व्युत्पत्ति के अनुसार ऋग्वेद को ही शास्त्र कहा जा सकता है किन्तु वेदप्रतिपादित अर्थ का प्रतिपादक होने से न्याय आदि दर्शनों को भी शास्त्र शब्द से अभिहित किया जाता है। आस्तिक और नास्तिक के भेद से दर्शनशास्त्र दो प्रकार का है। चार्वाक, बौद्ध, जैन - इन तीनों को वेदनिन्दक होने के कारण नास्तिक दर्शन कहा जाता है तथा न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा और वेदान्त इन छः दर्शनों को आस्तिक दर्शन कहा जाता है क्योंकि ये वेदों को प्रमाण मानते हैं और वेदार्थ का ही प्रतिपादन करते हैं। इन षड् दर्शनों में भी मुख्य रूप से आत्मा का साक्षात्कारी ज्ञान कराने वाला योगदर्शन ही है। अतः योगदर्शन अन्य दर्शनों से अधिक उपादेय है।

ज्ञान दो प्रकार का है- प्रत्यक्ष और परोक्षं। परोक्ष ज्ञान से मोक्ष नहीं होता अपितु प्रत्यक्ष ज्ञान से मोक्ष होता है। प्रत्यक्ष ज्ञान भी दो प्रकार का होता है बाह्यकरणजन्य और अन्त:करणजन्य। श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना और घ्राण - ये पाँच बाह्यकरण हैं और इनसे उत्पन्न शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध का ज्ञान बाह्य प्रत्यक्ष कहलाता है। मन अन्त:करण है। इससे उत्पन्न आन्तर ज्ञान मानस प्रत्यक्ष कहलाता है। यह मन भी दो प्रकार का होता है- समाहित मन और असमाहित मन। समाहित मन से ही आत्मा का प्रत्यक्ष ज्ञान सम्भव है असमाहित मन से नहीं। योगसाधना से ही मन समाहित होता है। योगाभ्यास के द्वारा ऋतम्भरा प्रज्ञा मन में उदित होती है और उस प्रज्ञा से विवेकख्याति द्वारा आत्मा का साक्षात्कार होता है और उसके पश्चात् मोक्ष होता है। इसलिये महर्षि पंतजलिप्रणीत योगसूत्र और उसमें विवेचित योगसाधना सर्वथा उपादेय है।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि अन्य दर्शनों में भी तो यत्किंचित् योगतत्त्व का विवेचन हुआ है, वहीं से योग के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है फिर योगदर्शन का ही पृथक् से अध्ययन क्यों किया जाये?

यह प्रश्न उचित नहीं। अन्य दर्शनों में योग का संकेत तो हुआ है, योग की महिमा भी वहाँ प्रतिपादित की गयी है किन्तु योग का सर्वांगीण विवेचन उन दर्शनों में प्राप्त नहीं होता। वहाँ तो द्रव्यादि पदार्थों का और प्रत्यक्षादि प्रमाणों का निरूपण विस्तार से किया गया है। योगदर्शन में तो योगोपाय तथा योगोपयोगी पदार्थों का ही विवेचन विशेष रूप से किया गया है। अत: अन्य दर्शनों के अध्ययन से योगतत्त्व का ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता। अत: योगदर्शन का अध्ययन आत्मसाक्षात्कार के लिये उपादेय है। इस मान्यता की व्याहति कहीं नहीं होती।

समस्त भारतीय वाङ्मय योग के माहात्म्य से भरा पड़ा है। किसी न किसी रूप में योग की चर्चा संहिता ब्राह्मण आरण्यक उपनिषद् स्मृति तथा पुराण आदि सभी ग्रन्थों में प्राप्त होती है। कहीं योग का स्वरूप, कहीं योग का साधन और कहीं योग का फल उक्त ग्रन्थों में स्पष्ट रूप से वर्णित है। कठोपनिषद् में योग का फल बताया गया है कि अध्यात्म योग के द्वारा परमात्मतत्त्व को जानकर सिद्ध पुरुष हर्ष और शोक दोनों को छोड़ देता है। जब पांचो ज्ञानेन्द्रियाँ मन के साथ स्थिर हो जाती हैं तो इस अवस्था को योग कहा जाता है। इससे हृदय की समस्त ग्रन्थियाँ छिन्न हो जाती हैं और साधक तब अमृत हो जाता है।

यदा पंचावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम्।। - कठ 2/3/10

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्ध्यनुशासनम्।। - कठ 2/3/15

योग की प्रक्रिया का विवेचन करते हुए महर्षि कहता है-
यच्छेद् वाङ् मनसि प्राज्ञस्तद् यच्छेद् ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि।। - कठ 1/3/13

अर्थात् योग द्वारा वाणी को मन में, मन को अहंकारोपाधिक ज्ञानात्मा में, ज्ञानात्मा को बुद्ध्युपाधिक महान् आत्मा में और महान् आत्मा को शुद्ध शान्त आत्मा में लीन करे।

श्वेताश्वतर उपनिषद् में क्रियायोग का अति सुन्दर निरूपण किया गया है। वहाँ कहा गया है-

त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं
हृदीन्द्रियाणि मनसा संनियम्य।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान्
स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि।। 2/7

अर्थात् शिर गर्दन और रीढ़ को एक सीध में ऊँचा करके, मन से इन्द्रियों को हृदय में प्रतिष्ठित करके विद्वान् साधक ज्ञानरूप नौका से समस्त भयावह विषयस्रोतों का अतिक्रमण करे।

प्राणायाम से ही दुष्टाश्वरूप मन को वश में किया जा सकता है। यह बात स्पष्ट रूप से स्वीकार की गयी है-

प्राणान् प्रपीड्येह संयुक्तचेष्टः
क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत।
दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं
विद्वान् मनो धारयतोप्रमत्तः।। - श्वेताश्वतर 2/9

योगसाधना का स्थान कैसा होना चाहिये इस दिशा में भी श्रुति ने निर्देश किया है-

समे शुचौ शर्करावह्निबालुका-
विवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः।
मनोऽनुकूले न तु चक्षुपीडने
गुहानिवाताक्षयणे प्रयोजयेत्।। श्वेताश्वतर 2/10

अर्थात् समाधि का अभ्यास करते समय स्थान पवित्र होना चाहिये। जहाँ कंकड आग बालू न हो , जहाँ किसी प्रकार का शब्द जलाशय आदि मन तथा नेत्रों को प्रतिकूल न लगे तथा जहाँ तीव्र हवा आदि प्रवेश न करे।

इस प्रकार श्रुति, स्मृति और पुराणों में कहीं संक्षेपतः और कहीं विस्तारपूर्वक योग का विवेचन प्राप्त होता है। आस्तिक ही नहीं अपितु बौद्ध, जैन आदि नास्तिक दर्शनों में भी योग का महत्त्व समानरूप से स्वीकार किया गया है। बौद्धों का अष्टांगयोगरूप मध्यम प्रतिपदा तथा जैनों का त्रिरत्न सिद्धान्त योगविद्या का ही परिचायक है। कहने का निष्कर्ष यह है कि अन्य दर्शनों में तो योग का परिचय मात्र प्राप्त होता है किन्तु योगदर्शन तो विशुद्धरूप से आत्मसाक्षात्कार के लिये योगसाधना का ही सर्वांग विवेचन प्रस्तुत करता है। अतः मोक्षाभिलाषियों को केवल योगशास्त्र में ही विशेष रूप से परिश्रम करना चाहिये।

महर्षि पंतजलि

प्रस्तुत पुस्तक योगविज्ञान प्रदीपिका की विषयवस्तु पांतजल योगसूत्र पर ही सर्वथा आधारित है। वर्तमान में योगसूत्र का जो लिखित रूप प्राप्त होता है उसके निर्माता निश्चित रूप से महर्षि पंतजलि हैं। योगसूत्र के अतिरिक्त चरकसंहिता और व्याकरण महाभाष्य का रचयिता भी पंतजलि को ही माना जाता है।, जैसा कि भोजवृत्ति में कहा गया है-

योगेन चित्तस्य पदेन वाचां
मलं शरीरस्य च वैद्यकेन।
योऽपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनां
पतंजलिं प्रांजलिरानतोऽस्मि।।

किन्तु इस विषय में ऐतिहासिक तथ्य प्राप्त नहीं होता कि इन तीनों का कर्ता एक ही पंतजलि है या पृथक्-पृथक् व्यक्ति है जिनका नाम पंतजलि है। तीनों का कर्ता एक ही पंतजलि हो इसमें कोई आश्चर्य तो हो नहीं सकता क्योंकि ऋषि तो बहुज्ञ होता है बहुविध विद्याओं का अधिकारी विद्वान् होता है। इसलिये उक्त तीनों रचनायें एक ही पंतजलि की हो सकती हैं किन्तु इस विषय में कोई ऐतिहासिक साक्ष्य उपलब्ध नहीं है।

महर्षि पंतजलि योगविद्या के आदि वक्ता नहीं हैं अपितु वे उसके संस्कर्ता या संकलनकर्ता ही हैं। यह बात उनके रचित योगसूत्र के पहले संयुक्त 'पांतजल' शब्द से प्रकट होती है। पांतजल शब्द यह सिद्ध करता है कि इससे पहले भी अन्य ग्रन्थकारों द्वारा योगसूत्रों की रचना की गयी होगी। वे या तो कालकवलित हो गये या महत्त्वहीन होने के कारण प्रसिद्धि प्राप्त नहीं कर पाये। योगसूत्र के प्रथम सूत्र "अथ योगानुशासनम्" इस सूत्र से भी यह बात सिद्ध होती है। अनुशासन का अर्थ है शिष्ट का शासन। अर्थात् जो योग विद्या प्रारम्भ से चली आ रही है उसके उपदेश का यह पुन: आरम्भ किया जा रहा है। पंतजलि कहना चाहते हैं कि मैं योग का कर्ता नहीं हूँ अपितु अनुशासक हूँ। अनु=पश्चात्, शासक= आरम्भ करने वाला अनुशासक कहलाता है।

योगविद्या के आदि वक्ता हिरण्यगर्भ माने जाते हैं। ऐसा याज्ञवल्क्यस्मृति के "हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्य: पुरातन:" इस वाक्य से जाना जाता है। यह हिरण्यगर्भ कौन था यह बात ज्ञात नहीं है। क्या यह वही हिरण्यगर्भ है जिसका वर्णन वेद के "हिरण्यगर्भ: समवर्तताग्रे भूतस्य जात: पतिरेक आसीत्" इस मन्त्र में किया गया है? या कोई हिरण्यगर्भ नाम का अन्य ऋषि है? इसका निर्णय साक्ष्यों के आधार पर नहीं किया जा सकता। वेद में जिस हिरण्यगर्भ की चर्चा हुई है वह तो परमात्मा ही है। उनसे तो प्रत्येक शास्त्र और प्रत्येक विद्या की उत्पत्ति हुई है। केवल योगविद्या की ही उत्पत्ति हिरण्यगर्भ से क्यों मानी जाये। ऐसा प्रतीत होता है कि योग का आदि वक्ता हिरण्यगर्भ नाम का कोई ऋषि रहा होगा जिसने योगविद्या का सर्वांगीण उपदेश किया होगा। कालान्तर में शिष्यपरम्परा से इसका प्रचार लोक में हुआ होगा। उसके कई हजार वर्ष पश्चात् पंतजलि ने इसको लिखित सूत्ररूप प्रदान किया। इस प्रकार यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि वर्तमान योगसूत्र के कर्ता महर्षि पंतजलि ही हैं।

पांतजल योगसूत्र

पांतजल योगसूत्र में चार पाद हैं- समाधि पाद, साधन पाद, विभूतिपाद तथा कैवल्यपाद। प्रथम पाद में 51 सूत्र हैं। द्वितीय पाद में 55, तृतीय पाद में 55 और चतुर्थपाद में 34 सूत्र हैं। प्रथम पाद में समाधि के रूप तथा भेद चित्त तथा उसकी वृत्तियों का विवेचन किया गया है। द्वितीय पाद में क्रियायोग, क्लेश, क्लेशों के निवारण के उपाय, तथा अष्टांग योग का विवेचन किया गया है। तृतीय पाद में धारणा ध्यान और समाधि के पश्चात् संयमजन्य विभूतियों का

वर्णन है तथा चतुर्थपाद में समाधिसिद्धि निर्माणचित्त, विज्ञानवादनिराकरण तथा कैवल्य के स्वरूप का विवेचन किया गया है।

पातंजल योग दर्शन के कतिपय विशिष्ट सिद्धान्त

महर्षि पंतजलि ने योगदर्शन में कुछ नयी परम्पराओं और नये सिद्धान्तों का सूत्रपात किया जो पहले प्रचलित नहीं थे। उनमें से कुछ सिद्धान्त हैं चतुर्व्यूहवाद, परिणामवाद, निर्माणकाय चित्त तथा कर्मवाद। इनका दिङ्मात्र विवेचन यहाँ किया जा रहा है।

चतुर्व्यूहवाद

चतुर्व्यूहवाद मुख्यरूप से चिकित्साशास्त्र का विषय है। पतंजलि ने इसको योगदर्शन में चरितार्थ कर एक नयी परम्परा का आरम्भ किया। चिकित्सा शास्त्र में रोग, रोगहेतु, आरोग्य और आरोग्योपाय - इन चार व्यूहों का वर्णन उपलब्ध होता है। पतंजलि ने भी हेय, हेयहेतु, हान तथा हानोपाय - इन चार व्यूहों का विवेचन अपने योगसूत्र में किया है। इन्हीं चार व्यूहों में योगशास्त्र का सार निहित है।

1. **हेयः-**

हेय का अर्थ है त्याज्य। मानवजीवन में त्यागने योग्य क्या है इसका निश्चय योगसाधक को सर्वप्रथम करना पड़ता है। प्रत्येक मनुष्य के लिये दुःख ही हेय है। दुःख संसार से उत्पन्न होता है। इसलिये दुःख और संसार पर्याय माने जाते हैं। किन्तु विचारणीय यह है कि कौन सा दुःख हेय है- अतीत या वर्तमान? पंतजलि कहते हैं- हेयं दुःखमनागतम्। अर्थात् जो दुःख अभी आया नहीं है अपितु आने वाला है ऐसा भविष्यत्कालिक दुःख ही हेय है। अतीत और वर्तमान दुःख हेय नहीं। अतीत दुःख का तो भोग द्वारा क्षय हो ही चुका है। वर्तमान काल के दुःख का क्षय भोग द्वारा किया जा रहा है। इसलिये अतीत और वर्तमान दुःख के नाश के लिये प्रयत्न की आवश्यकता ही नहीं है। जो दुःख अभी नहीं आया है किन्तु जिसके आने की पूर्ण सम्भावना है उसका निवारण करने की आवश्यकता है। इसी में प्रयत्न की सार्थकता भी है।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि जो दुःख अभी आया ही नहीं उसके विषय में चिन्ता करके मन को दुःखी क्यों किया जाये? भविष्यत्कालीन दुःख के लिये वर्तमान सुख को भी क्यों छोड़ा जाये? फिर दूसरी बात यह भी है कि यदि अनन्त जन्मों में किये गये कर्मों का फल अवश्य ही भोग्य है तो अनागत दुःख का नाश भी कैसे सम्भव है? वह तो भोगना ही पड़ेगा?

इस प्रश्न का उत्तर कठिन नहीं है। यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि अतीत और वर्तमान दु:ख हेय हो ही नहीं सकता। कृत कर्मों का फल भविष्यत्काल में अवश्य ही मिलना है। यह सत्य है किन्तु योगसाधना से कृत कर्मों का फल नष्ट किया जा सकता है। योगसाधना द्वारा समाधि को सिद्ध करने में जिस कष्ट की अनुभूति होती है उसी से पाप कर्मों का क्षय हो जाता है तथा समाधिकाल में जिस सुख की अनुभूति होती है उसी के द्वारा पुण्य का फल सुख भी भोग लिया जाता है। इसलिये "नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटि शतैरपि" इस कर्मसिद्धान्त की हानि नहीं होती। इसी लक्ष्य को दृष्टि में रखकर भगवान् अर्जुन से कहते हैं-

यथैधांसि समिद्धोऽग्नि र्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा।।

गीता 4/37

अर्थात् जिस प्रकार प्रचण्ड अग्नि ईंधन को भस्म कर देती है वैसे ही विवेकख्यातिरूप ज्ञान की अग्नि समस्त कर्मों का क्षय कर देती है।

इस प्रकार "हेय दु:खमनागतम्" - योगसूत्र 2/16
पंतजलि का यह वचन सर्वथा सत्य है। यह प्रथम व्यूह है।

2. **हेयहेतुः-**

इस दु:ख का कारण क्या है? क्यों होता है दु:ख? इस प्रश्न पर विचार द्वितीय व्यूह में किया जाता है। पंतजलि कहते हैं-

द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः। योगसूत्र 2/17

अर्थात् द्रष्टा और दृश्य का संयोग ही दु:ख का कारण है। द्रष्टा है पुरुष और दृश्य है बुद्धि। इन दोनों के संयोग से दु:ख की परम्परा आरम्भ होती है। पुरुष के सम्पर्क से बुद्धि अचेतन होती हुई भी चेतनवत् कार्य करने लगती है। अथवा यूँ कहें कि स्वयम् को चेतन ही मान बैठती है और बुद्धि के सम्पर्क से चेतन पुरुष अकर्ता और अभोक्ता होते हुए भी स्वयम् को कर्ता और भोक्ता मान लेता है।

भाव यह है कि पुरुष उदासीन है और सुखदु:खादि बुद्धि के धर्म हैं। फिर भी जिस समय सुख दु:खादि धर्म बुद्धि में उत्पन्न होते हैं उस समय पुरुष का प्रतिबिम्ब बुद्धिसत्त्व में पड़ता है। उसी समय बुद्धि के सुखदु:खादि पुरुष के प्रतिबिम्ब में भासते हैं। पुरुष अपने प्रतिबिम्ब को अपना स्वरूप ही समझने

लगता है। अतः उक्त सुखदुःखादि को पुरुष अपने में मानकर "मैं सुखी हूँ","मैं दुःखी हूँ" ऐसा मानने लगता है। इसी का नाम पुरुष में भोग कहलाता है। इसी भोग का नाम दुःख है।

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि जिसे हम लोक में सुख कहते हैं वह वास्तव में दुःख ही है। इसीलिये पंतजलि कहते हैं- दुःखमेव सर्वं विवेकिनः। इस प्रकार पुरुष और बुद्धि का संयोग ही हेयहेतु है, यह सिद्ध हुआ।

पुरुष और प्रकृति का यह संयोग कब हुआ और क्यों हुआ, यह प्रश्न निरर्थक है। यह सम्बन्ध अनादि है। अनादि सम्बन्ध का कारण नहीं होता। हाँ इसका प्रयोजन तो है। प्रयोजन है भोग और मोक्ष। प्रकृति का समस्त व्यापार पुरुष के लिये है। वह पहले उसे भोग देती है और फिर मोक्ष। अब यदि यह पूछा जाये कि प्रकृति का यह प्रयोजन भी किसलिये है? तो इसका भी उत्तर यह है कि प्रकृति का यह प्रयोजन निष्प्रयोजन है। बिना किसी स्वार्थ के प्रकृति परार्थ कार्य करती है।

3. हानः-

तृतीय व्यूह हान है। हान का अर्थ है दुःख का नाश। चूँकि दुःख है तो इसका नाश भी अवश्य है। दुःख अनादि तो है किन्तु अनन्त नहीं है। दुःख का नाश सम्भव है। इस हान का क्या स्वरूप है यह जानने से पहले यह जानना आवश्यक है कि इन दोनों का सम्बन्ध कराने वाला कौन है? इसके उत्तर में पंतजलि कहते हैं कि "तस्य हेतुरविद्या", अर्थात् बुद्धि और पुरुष का संयोग अविद्या के कारण होता है। इस संयोग के हेतुरूप अविद्या का अभाव होने पर दुःख का भी नाश हो जाता है।

तदभावात् संयोगाभावो हानं
तद् दृशे कैवल्यम्।

-योगसूत्र 2/25

अर्थात् अविद्या के अभाव से पुरुष और बुद्धि का परस्पर संयोग नहीं होगा। इसी का नाम हान है और यही पुरुष का कैवल्य कहलाता है। कैवल्य अर्थात् त्रिगुणात्मक प्रकृति के साथ फिर कभी न मिलना। व्यास जी कह रहे हैं-

कैवल्यं पुरुषस्यामिश्रीभावः पुनरसंयोगो गुणैरित्यर्थः। -2/25

अर्थात् अविद्या के नाश से पुरुष का आत्यन्तिक बन्धनोपरम हो जाता है। इसी कैवल्य का नाम हान है। योगसाधना का यही लक्ष्य है।

4. **हानोपायः-**

इस हान अर्थात् कैवल्य की प्राप्ति का उपाय क्या है? इसके उत्तर में कहा गया है-

विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः। - योगसूत्र 2/26

अर्थात् मिथ्याज्ञान से रहित विवेकख्याति ही कैवल्य की प्राप्ति का उपाय है। प्रकृति और पुरुष के भेदज्ञान को विवेकख्याति कहते हैं। जब समाधि द्वारा साधक योगी में विवेकख्याति का उदय होता है तो योगी के चित्त में सात प्रकार की विशिष्ट प्रज्ञा होती है। प्रज्ञा के प्रकार इस प्रकार हैं-

1 मैंने संसाररूप हेय को अच्छी प्रकार जान लिया है। अब इस विषय में कुछ भी जानना शेष नहीं है। यह प्रज्ञा का पहला रूप है।

2 हेय अर्थात् दुःख के हेतुभूत समस्त अविद्यादि क्लेश अब क्षीण हो चुके हैं। अब क्षीण करने के लिये कुछ भी नहीं बचा है। यह प्रज्ञा का दूसरा प्रकार है।

3 मैंने असम्प्रज्ञात समाधि के द्वारा हान का साक्षात्कार कर लिया है। अब जानने के लिये कुछ भी शेष नहीं रहा। यह तीसरे प्रकार की प्रज्ञा है।

4 विवेकख्यातिरूप हानोपाय मैंने प्राप्त कर लिया है। अब प्राप्त करने के लिये कुछ भी शेष नहीं है। यह चतुर्थ प्रकार की प्रज्ञा है। यह चार प्रकार की प्रज्ञा की पूर्णता प्रयत्नसाध्य है।

5 मेरी बुद्धि के दो ही प्रयोजन थे- पुरुष के लिये पहले भोग देना और फिर मोक्ष देना। ये दोनों ही प्रयोजन पूर्ण हो चुके हैं। अब मेरी बुद्धि का कोई भी कार्य शेष नहीं रहा है। वह कृतकार्य हो चुकी है। यह प्रज्ञा की पाँचवी भूमि है।

6 पर्वत से गिरे हुए पत्थरों को जैसे कोई आश्रय न मिलने से वे टूट-फूट कर अपने कारणरूप मिट्टी में मिलकर अस्त हो जाते हैं उसी प्रकार मेरे सत्त्वादि तीनों गुण निराधार होकर चित्त के साथ ही अपने कारणभूत प्रकृति में प्रलय को प्राप्त होकर अस्त हो चुके हैं। अब पुनः इनकी उत्पत्ति नहीं होगी क्योंकि उत्पत्ति का कोई प्रयोजन ही अब नहीं है। विवेकख्याति प्राप्त योगी की यह छठे प्रकार की प्रज्ञा है।

7 अब इस अवस्था में पुरुष गुणों के सम्बन्ध से रहित होकर चैतन्यस्वरूप निर्मल केवली हो जाता है। यह जीवन्मुक्ति की अवस्था है। यह सातवें प्रकार की प्रज्ञा है। इस प्रज्ञा को देखता हुआ पुरुष मुक्त और कुशल कहलाता है। मृत्यु के पश्चात् चित्त का लय हो जाने पर वह विदेहमुक्त कहलाता है।

यह सात प्रकार की प्रज्ञावाली विवेकख्याति ही हानोपाय है। इस प्रकार योगशास्त्र में चतुर्व्यूहवाद का आरम्भ करके पंतजलि ने एक मौलिक परम्परा का श्रीगणेश किया।

परिणामवाद

योगदर्शन में पंतजलि ने जिस परिणामवाद का विवेचन किया है वह अन्य दर्शनों के परिणामवाद से भिन्न है। अन्य दर्शनों का परिणामवाद मूलकारण से जगत् की उत्पत्ति के सन्दर्भ में हैं। जैसे न्याय वैशेषिक दर्शनों में जगत् का मूलकारण परमाणु है। अनेक परमाणु संयुक्त होकर अपने से भिन्न कार्य को उत्पन्न करते हैं। इसलिये उनका सृष्टिवाद आरम्भवाद कहलाता है। बौद्ध इसे संघातवाद कहते हैं। संसार को ब्रह्म की अवास्तविक छाया बताने वाले अद्वैत वेदान्ती विवर्तवादी कहलाते हैं। प्रत्यभिज्ञा दर्शन इसे प्रतिबिम्बवाद कहता है। उनका मत है कि जैसे दर्पण में बाह्य पदार्थों का प्रतिबिम्ब दिखाई देता है वैसे ही ब्रह्म में अन्तर्भूत जगत् का प्रतिबिम्ब दिखाई देता है। सांख्याचार्य जगत् को प्रकृति का परिणाम कहते हैं। योगदर्शन भी परिणामवादी है। प्रकृति में परिवर्तन होकर महदादि तत्त्वान्तरों की उत्पत्ति होती है।

उपर्युक्त सभी परिणामों से भिन्न पहर्षि पंतजलि ने योगसूत्र में एक अन्य प्रकार के परिणाम का वर्णन किया है जिसे वृत्ति नाम से जाना जाता है। चित्त का परिणाम ही वृत्ति है।

योगाभ्यासकाल में समाधिविशिष्ट चित्त के तीन परिणाम सामने आते हैं समाधि परिणाम, एकाग्रता परिणाम और निरोध परिणाम। चित्त का यह त्रिविध परिणाम धर्म, लक्षण और अवस्था में परिणाम होने पर होता है। धर्म अर्थात् कार्य के कारण धर्मी में अर्थात् कारण में होने वाला परिणाम धर्मपरिणाम कहा जाता है। जैसे पृथ्वी आदि भूतों का घट वृक्ष आदि के रूप में धर्मपरिणाम होता है।

काल के द्वारा होने वाले परिणाम को लक्षणपरिणाम कहा जाता है। अर्थात् अवस्थित धर्म के अनागतादि लक्षण के परित्यागपूर्वक वर्तमानादिलक्षण की जो प्राप्ति है उसे लक्षणपरिणाम कहते हैं। जैसे मिट्टी में घटादि धर्म छिपे

रहते हैं। जब मिट्टी का घटाकार परिणाम होता है तब घटात्मक धर्म अपनी अनागत अवस्था को छोड़कर वर्तमान अवस्था प्राप्त करता है। इस प्रकार अनागत लक्षण का त्याग करते हुए घट का वर्तमान लक्षण प्राप्त करना घटात्मक धर्म का लक्षणपरिणाम है।

लक्षण परिणाम के समान अवस्था परिणाम भी धर्म का ही हुआ करता है। धर्म का एक अध्वा अर्थात् काल से दूसरे अध्वा में प्रस्थान जिस लक्षणपरिणाम के द्वारा होता है उसका सहायक अवस्था परिणाम ही होता है। यदि अवस्था परिणाम न होता तो किसी बाह्य निमित्त के बिना घटादि धर्म की जो भग्नावस्था देखने में आती है वह सिद्ध नहीं हो सकती थी । इसी प्रकार वर्तमानलक्षणापन्न देहादि धर्मों में बाल्य कौमार यौवन तथा वार्धक्य के रूप में जो परिणाम होता है वह अवस्था परिणाम ही है।

1. समाधिपरिणाम

सम्प्रज्ञातसमाधि की प्रारम्भिक अवस्था में चित्त का समाधि परिणाम होता है। जब योगसाधक का चित्त समाधि की सिद्धि की ओर प्रयास करता है तो उसका सर्वार्थता धर्म शिथिल होना प्रारम्भ कर देता है। सर्वार्थता का अर्थ है कि वह जो विभिन्न विषयों की ओर दौड़ता था वह दौड़ अब समाप्त होती जाती है और केवल एकविषयाभिमुखता प्रबल होती जाती है। व्युत्थान का क्षय और एकाग्रता का उदय, यह चक्र चलता रहता है। इसी का नाम चित्त का समाधिपरिणाम है। (सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः। - योगसूत्र 3/11)

2. एकाग्रतापरिणाम

जब साधक के चित्त का चांचल्य सर्वथा समाप्त हो जाता है तब वह एकाग्रता की अवस्था को पूर्णरूप से प्राप्त कर लेता है। उस समय चित्त में ध्येयाकार वृत्तियाँ ही उठती और लीन होती रहती हैं। इस प्रकार चित्त की वह अवस्था जिसमें सदृश ध्येयाकारवृत्तिरूप धर्म का ही आविर्भाव और तिरोभाव होता रहता है एकाग्रतापरिणाम कहलाती है। समाधि से उठने के पूर्वकाल तक योगी के चित्त का यह एकाग्रतापरिणाम चलता रहता है।

ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः। -योगसूत्र 3/12

समाधिपरिणाम और एकाग्रतापरिणाम यद्यपि चित्त के धर्मों का ही परिणाम है फिर भी इन दोनों में इतना अन्तर है कि समाधिपरिणाम में तो

व्युत्थानवृत्तियों का क्षय और एकाग्रतावृत्तियों का उदय होता है किन्तु एकाग्रतापरिणाम में तो केवल एकाग्रतावृत्तियों का ही आविर्भाव और तिरोभाव होता रहता है।

3. निरोधपरिणाम

ज्यों-ज्यों साधना आगे बढ़ती है त्यों-त्यों व्युत्थान की वृत्तियाँ क्षीण होते होते एक दिन सम्पूर्ण रूप से समाप्त हो जाती हैं और साधक सम्प्रज्ञात समाधि के पश्चात् असम्प्रज्ञातसमाधि पर विजय प्राप्त कर लेता है। असम्प्रज्ञातसमाधि मे व्युत्थानवृत्तियाँ सर्वथा समाप्त हो जाती हैं किन्तु वृत्तिजन्य संस्कार चित्त में अभी भी पड़े रहते हैं। दूसरी ओर असम्प्रज्ञातसमाधि में वृद्धि के साथ-साथ सर्ववृत्तिनिरोधसंस्कार भी बढ़ते जाते हैं। निरोधसंस्कारों की दृष्टि से एकाग्रतासंस्कार भी व्युत्थानरूप ही है। पंतजलि कहते है कि निरुद्ध अवस्था वाले चित्त में व्युत्थानसंस्कारों का अभिभव और निरोधसंस्कारों का प्रादुर्भाव होता रहता है। यही चित्तरूप धर्मी का निरोधपरिणाम है।

चित्त का यह निरोधपरिणाम पूर्वोक्त समाधिपरिणाम और एकाग्रतापरिणाम से बिल्कुल भिन्न है। समाधि और एकाग्रतापरिणाम में तो चित्त का वृत्त्यात्मक परिणाम होता है किन्तु निरोधपरिणाम में वृत्त्यात्मक परिणाम नहीं होता अपितु निरुद्धजातीय संस्कारों की ही क्रमशः वृद्धि होती जाती है। इस प्रकार चित्त की परिणामक्रिया सूक्ष्म सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम होती जाती है।

निर्माणकाय सिद्धि

महर्षि पंतजलि ने अपने योगसूत्र में सिद्धियों के प्रसंग में निर्माणकाय सिद्धि का विवेचन किया है। इसी का नाम निर्माणचित्त, कायव्यूह तथा प्रयोजकचित्तसिद्धि भी है। यद्यपि इस सिद्धि का उल्लेख नया नहीं है। अनेक दर्शनों में, पुराणों में स्मृतियों में तथा तन्त्रशास्त्रों में इस सिद्धि का विवेचन हुआ है किन्तु पंतजलि ने इसका सहेतुक विवेचन करके एक नूतन कार्य किया है।

योगीजन अपनी इच्छा से कुछ समय के लिये किसी विशेष अभिप्राय से निर्माणचित्त की सृष्टि करते हैं। कभी दयाभाव के वशीभूत हो उपदेश देने के लिये, कभी धर्म की रक्षा के लिये, कभी इच्छामृत्यु के लिये और कभी किसी लौकिक कार्य की सिद्धि के लिये योगीजन निर्माणचित्त अथवा कायव्यूह का आश्रय लेते हैं। उस उद्देश्य की पूर्ति हो जाने पर यह चित्त स्वयमेव तिरोहित हो जाता है।

निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात्। - योगसूत्र 4/4

प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकचित्तमेकमनेषाम्। – योगसूत्र 4/5

इन सूत्रों में पंतजलि कहते हैं कि योगी केवल अस्मिता के बल से एक ओर अनेक चित्तों का निर्माण करता है तथा दूसरी ओर वह एक प्रयोजक चित्त का भी निर्माण करता है जो अन्य चित्तों को अपने अधीन रखकर उनसे अभीष्ट कार्य कराता है। यदि ऐसा न हो तो अन्य चित्तों में एकरूपता न हो सकेगी और उनसे कोई भी प्रयोजन सिद्ध न हो सकेगा।

इस निर्माणचित्त सिद्धि के विषय में किसी प्रकार की शंका नहीं करनी चाहिये। प्राचीन काल में भगवान् कपिल ने भी निर्माणचित्त का आश्रय लेकर आसुरि को सांख्यशास्त्र का उपदेश किया था। भगवान् श्रीकृष्ण ने गोपियों के साथ रासलीला करते समय अनेक शरीर धारण किये थे। ब्रह्मपुराण में भी कहा गया है-

योगीश्वरः शरीराणि करोति विकरोति च ।
प्राप्नुयाद् विषयान् कैश्चित् कैश्चिदुग्रं तपश्चरेत्।
संहरेच्च पुनस्तानि सूर्यो रश्मिगणानिव।। 238/27

कर्मवाद

योगदर्शन का कर्मवाद इतना सुस्पष्ट और हृदयग्राही है कि सभी दार्शनिक और आलोचकों ने इसकी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। किसी भी वैमत्य के बिना सभी ने इसे स्वीकार किया है। कर्म के कितने भेद हैं, कर्माशय क्या है, किन कर्मों का फल दृष्टजन्म में भोग्य है और किन कर्मों का फल आगामी जन्मों में भोगना पड़ेगा, योगी के कर्म और कर्माशय किस प्रकार के होते हैं, कर्माशय और वासना में क्या अन्तर है इत्यादि प्रश्नों पर महर्षि पंतजलि ने और भाष्यकार व्यासदेव ने बड़े विस्तार से विचार किया है। यह महर्षि पंतजलि का विशिष्ट सिद्धान्त माना जाता है। **'कर्मगतिश्चित्रा'** तथा **'गहना कर्मणो गतिः'** इत्यादि वचनों की सारगर्भिता का ज्ञान पंतजलि के कर्मसिद्धान्त को पढ़कर ही होता है।

प्रस्तुत पुस्तक

प्रस्तुत पुस्तक 'योगविज्ञानप्रदीपिका' छात्रों की रुचि और स्वभाव को दृष्टि में रखकर लिखी गयी है। विश्वविद्यालयों एवं महाविद्यालयों की परीक्षाओं में आज योगविषय का अध्ययन अध्यापन प्रचलित सा हो गया है। सरल और सुबोध भाषा में योगविषयक सामाग्री प्राय: अत्यल्प प्राप्त होती है। परीक्षार्थी की सुविधा को ध्यान में रखकर ही इस पुस्तक का निर्माण किया गय है। यदि योग जिज्ञासु छात्रवर्ग इससे लाभान्वित हो सका तो मैं स्वयम् को कृतकार्य मानूंगा। छात्रों की सुविधा के लिये पांतजल योगसूत्र हिन्दी एवं अंग्रजी अनुवाद सहित भी अन्त में जोड़ दिया गया है।

विद्वज्जनचरणासेवी
डा0 विजयपाल शास्त्री
प्रोफेसर दर्शन विभाग

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार

तिथि- फाल्गुनी अमावस्या
विक्रमसंवत् 2062
तदनुसार 27-2-2006 ईसवीय

विषय सूची

आमुख 3

प्रथम अध्याय

योग 25

योग की परिभाषा 25

-महर्षि पंतजलि के अनुसार 26

योग की अन्य परिभाषाएँ -

-याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार 28

-लिङ् पुराण के अनुसार 29

-अग्नि पुराण के अनुसार 29

-स्कन्द पुराण के अनुसार 29

-हठयोग प्रदीपिका के अनुसार 30

-भगवद्गीता के अनुसार 30

चित्त की अवधारणा 33

वृत्ति क्या है? 35

चित्त की भूमियाँ 36

-क्षिप्त 37

-मूढ 37

-विक्षिप्त 37

-एकाग्र 38

-निरुद्ध 38

स्वरूपावस्थान 39

चित्तवृत्ति के भेद-

-प्रमाण वृत्ति 40

-विपर्यय वृत्ति 42

-विकल्प वृत्ति 42

-निद्रा वृत्ति 43

-स्मृति वृत्ति 44

चित्तवृत्ति निरोध के उपाय- 44
-अभ्यास और वैराग्य- प्रथम उपाय 45
-ईश्वरप्रणिधान - द्वितीय उपाय 48
-भावनाचतुष्टय- तृतीय उपाय 48
-प्राणायाम- चतुर्थ उपाय 48
-विषयवती प्रवृत्ति -पंचम उपाय 49
-ज्योतिष्मती प्रवृत्ति- षष्ठ उपाय 49
-वीतराग विषयक चित्त- सप्तम उपाय 49
-स्वप्न निद्रा ज्ञानालम्बन- अष्टम उपाय 50

द्वितीय अध्याय

योगदर्शन में ईश्वर की अवधारणा 51
योगदर्शन सेश्वर सांख्य है 53
अन्योन्याश्रय दोष की आशंका और उसका परिहार 54
महाप्रलय में शंका का परिहार 55
ईश्वर के नाम अंग तथा अव्यय 56
संसार की रचना भूतानुग्रह के लिये 57
ईश्वर काल से अनवच्छिन्न 59
संकेतजन्यवाद 61
संकेतद्योत्यवाद 61
भाष्यकार का मत 61
प्रणवजप का अर्थ 62
ईश्वरप्रणिधान का फल 64
प्रत्यक् चेतना 64
चित्तविक्षेप का कारण 66
-व्याधि 66
-स्त्यान 66
-संशय 67
-प्रमाद 67
-आलस्य 67
-अविरति 68
-भ्रान्तिदर्शन 68

-अलब्धभूमिकत्व 68
-अनवस्थितत्व 69
-दु:ख 69
-दौर्मनस्य 70
-अंगमेजयत्व 70
-श्वास 70
-प्रश्वास 71

योगदर्शन में कर्म सिद्धान्त 72
-कर्म के भेद 74
-कर्माशय क्लेशमूलक है 75
-कर्मफल के दो भेद 76
-कर्मविपाक का त्रैविध्य 78
-एकभविकवाद 79
-एकभविक कर्माशय के दो भेद 82
-अनियत कर्माशय की तीन गतियाँ 82

तृतीय अध्याय
क्रियायोग की अवधारणा 85
-तप 87
-उग्रतप योग में वर्जित है 90
-स्वाध्याय 92
-ईश्वरप्रणिधान 92
-क्रियायोग का उद्देश्य 94

क्लेश निरूपण
-अविद्या 96
-अस्मिता 99
-राग 100
-द्वेष 100
-अभिनिवेश 100

अविद्यादि क्लेशों का भेद निरूपण 101
-तम के आठ भेद 102
-मोह के आठ भेद 102
-महामोह के दस भेद 102
-तामिस्र के अठारह भेद 102
-अन्धतामिस्र के अठारह भेद 103
संयम क्या है? 103
संयम का फल 104
संयम का विनियोग क्रम से करें 104
विभूति निरूपण 106
विभूतियों की संख्या 107
-अतीतानागत ज्ञान 108
-सर्वभूतरुत ज्ञान 109
-पूर्वजाति ज्ञान 110
-परचित्त ज्ञान 111
-अन्तर्धान 111
-अपरान्त ज्ञान 112
-मैत्र्यादिबल प्राप्ति 113
-हस्त्यादिबल प्राप्ति 113
-सूक्ष्मव्यवहित विप्रकृष्ट ज्ञान 114
-भुवनज्ञान 114
-ताराव्यूहज्ञान 114
-तारागति ज्ञान 114
-कायव्यूह ज्ञान 115
-क्षुत्पिपासा निवृत्ति 115
-स्थिरता की प्राप्ति 115
-सिद्धदर्शन 115
-त्रैकालिक पदार्थज्ञान 116
-चित्तसंवित् 116
-पुरुष ज्ञान 116
-प्रातिभादि ज्ञान 117
-परकाय प्रवेश 117
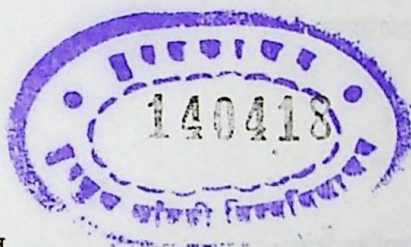
-ज्वलनसिद्धि 119
-दिव्य श्रोत्र 119
-आकाशगमन 119
-प्रकाशावरण क्षय 120
-भूतजय 120
-अणिमादि अष्ट सिद्धियाँ 121
-कायसम्पत् 123
-इन्द्रियजय 124
-मनोजवित्व 125
-विकरणभाव 125
-प्रधानजय 125
-सर्वभावाधिष्ठातृत्व 125
-सर्वाज्ञातृत्व 126

चतुर्थ अध्याय
योग के आठ अंग 128
नौ कारण- 129
-उत्पत्तिकारण 129
-अभिव्यक्तिकारण 129
-विकारकारण 129
-प्रत्ययकारण 129
-प्राप्तिकारण 129
-वियोगकारण 129
-अन्यत्वकारण 130
-घृतिकारण 130
यम का स्वरूप 130
-अहिंसा का स्वरूप 131
-सत्य का स्वरूप 131
-अस्तेय का स्वरूप 134
-ब्रह्मचर्य का स्वरूप 134
-अपरिग्रह का स्वरूप 135
महाव्रतमीमांसा 137

-जात्यवच्छिन्न अहिंसा 137

-देशावच्छिन्न अहिंसा 137

-कालावच्छिन्न अहिंसा 137

-समयावच्छिन्न अहिंसा 137

-हिंसा के 81 प्रकार 138

नियमों का स्वरूप 139

-शौच 140

-सन्तोष 140

-तप 140

-स्वाध्याय का स्वरूप 142

-ईश्वरप्रणिधान का स्वरूप 142

अत्रिस्मृति में दस नियम 142

यमों के अनुष्ठान का फल 143

नियमों का फल 145

आसन का स्वरूप 147

-पद्मासन 148

-वीरासन 148

-भद्रासन 148

-स्वस्तिकासन 148

आसनसिद्धि का फल 149

प्राणायाम का स्वरूप 149

प्राणायाम का भेद 150

प्राणायाम को दीर्घ तथा सूक्ष्म करना 151

प्राणायाम की परीक्षा 151

चतुर्थ प्राणायाम 152

प्राणायामसिद्धि का फल 153

पंचम अध्याय

प्रत्याहार का स्वरूप 154

प्रत्याहार का फल 154

प्रत्याहार के भेद 154

धारणा का स्वरुप 155
धारणा के भेद 155
ध्यान का स्वरुप 156
ध्यान के भेद 157
ध्यान की विधि 157
समाधि का स्वरुप 158
समाधि के भेद 159
सम्प्रज्ञात समाधि के भेद 159
ऋतम्भरा प्रज्ञा 164
सम्प्रज्ञातसमाधि का फल 165
असम्प्रज्ञात समाधि का स्वरुप 166
असम्प्रज्ञात समाधि के दो भेद 166
-भव प्रत्यय 167
-उपाय प्रत्यय 168
बन्धन और मोक्ष 170
कैवल्य का स्वरुप 170
कैवल्य के भेद 171

पातंजल योगसूत्र- मूल, हिन्दी अंग्रेजी अनुवाद सहित . 173

प्रथम अध्याय

योग

योग क्या है? इस प्रश्न के समाधान के लिए योग की विषयवस्तु को दो भागों में विभाजित करके विचार करना पड़ेगा योग साधना और योग दर्शन । साधना की दृष्टि से योग एक ऐसी अनूठी जीवनकला है जिसके द्वारा साधक इस लोक में ऐहिक विषयों का सेवन करते हुए भी 'जले कमलवत्' निर्लिप्त रह सकता है। आसक्ति को छोड़कर नियत कर्म करना ही योग है। इसी का नाम कर्मयोग है। दर्शन की दृष्टि से सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात समाधि के द्वारा विवेकख्याति की प्राप्ति का नाम योग है। इस दृष्टि से योग की विषयवस्तु को हेय, हेयहेतु, हान और हानोपाय इन चार व्यूहों में समाविष्ट करके उसका अध्ययन करना पड़ता है। अनागत दुखः हेय है, प्रकृति और पुरुष का संयोग हेयहेतु है। यह संयोग अविद्या के द्वारा होता है । अविद्या के नाश से उस संयोग का नाश करना ही हान है और विवेकख्याति हानोपाय है । महर्षि पंतजलि ने अपने योगसूत्र में योग के उपर्युक्त दोनो पक्षों अर्थात् योग साधना और योग दर्शन का बड़ा हृदयग्राही समन्वय किया है। इसलिए यह ग्रन्थ योगसाधकों और योगदार्शनिकों के लिए सर्वाधिक प्रिय है।

योग की परिभाषा

योग शब्द युज् धातु से निष्पन्न हुआ है। धातुपाठ में योग शब्द के लिए दो धातुएं प्राप्त होती हैं-युजिर् योगे और युज् समाधौ। युजिर् धातु से निष्पन्न योग शब्द सामान्य सम्बन्ध का वाचक है। इस शब्द की योगसाधना के क्षेत्र में कोई उपयोगिता नहीं। युज् समाधौ धातु से निष्पन्न योग शब्द ही यहां ग्राह्य है जिसका अर्थ है समाधि। व्यास भाष्य में 'योगः समाधिः' कहकर योग को समाधि का पर्याय स्वीकार किया गया है।

महर्षि पंतजलि के अनुसार-

श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराणादि में योग की विभिन्न परिभाषायें प्राप्त होती है किन्तु महर्षि पंतजलि ने समस्त शास्त्रों का सारसंग्रह करके योग की जो परिभाषा दी है, वही परिभाषा सबसे अधिक सारगर्भित दोषरहित और हृदयग्राही प्रतीत होती है। अन्य समस्त परिभाषाएं इसी का अनुवाद और व्याख्या प्रतीत होती हैं। हम उन परिभाषाओं पर भी विचार करेंगें। पहले पंतजलिप्रोक्त परिभाषा की परीक्षा करते हैं:-

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। - योगसूत्र 1/2

अर्थात् चित्त की वृत्तियों का निरोध योग कहलाता है। यहाँ चित्त, उसकी वृत्तियाँ और उनका निरोध ये तीन बातें विशेष रूप से ध्यातव्य हैं। चित्त क्या है? प्रकृति के सत्त्वगुण का विशेष परिणाम चित्त है? प्रकृति त्रिगुणात्मक है। सत्त्व, रजस् और तमस् इन तीन गुणों का ही सम्मिलित रूप प्रकृति है। प्रकृति का लघु और प्रकाशक सत्त्व है। उपष्टम्भक और चंचल रूप रजस् है तथा गुरुत्त्व और आवरक रूप तमस् है। उनमें लघुता तथा प्रकाश स्वभाव वाला जो सत्त्वगुण है, उसका परिणामविशेष ही चित्त कहलाता है।

यद्यपि चित्त त्रिगुणात्त्मक है, तथापि प्रकृति का जो ज्ञानरूप सात्त्विक परिणाम है, वह सत्त्वविशिष्ट ही है और वही सत्त्वविशिष्ट परिणाम चित्त नाम से जाना जाता है।

चित्त की पाँच वृत्तियाँ है- प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति। यद्यपि चित्त की वृत्तियाँ असंख्य है फिर भी उक्त पाँच रूपों में ही उनका संकलन किया जाता है। जिस अवस्थाविशेष में उक्त वृत्तियाँ रुक जाती हैं, उस अवस्थाविशेष को योग कहा जाता है।

योग दो प्रकार का है- सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात। इन दोनो ही योगों का संग्रह 'योगः' शब्द से करने के लिये उसे पृथक्-पृथक् दो प्रत्ययों से निष्पन्न किया जाता है। "युज्यते अनेनेति योगः इस विग्रह में करणाधि करणयोश्च" इस सूत्र से करण अर्थ में घञ्-प्रत्यय लगाकर जो शब्द निष्पन्न होता है, उस योग का अर्थ सम्प्रज्ञात योग है, तथा 'भावे सूत्र से भाव अर्थ में घञ् प्रत्यय लगाकर जो शब्द निष्पन्न होता है, उस योग का अर्थ असम्प्रज्ञात योग है। इसका विग्रह होगा योजनं योगः।

'युज्यतेऽनेनेति योग:' इसका अर्थ है- जिसके द्वारा समाधि की जाती है, वह योग है। "योजनं योग:" का अर्थ है- समाधि ही योग है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि सम्प्रज्ञात योग साधन है और असम्प्रज्ञात योग साध्य। अर्थात् सम्प्रज्ञात योग से असम्प्रज्ञात योग की सिद्धि की जाती है।

सम्प्रज्ञातयोग भी समाधि है और असम्प्रज्ञात योग भी समाधि है। किन्तु सम्प्रज्ञात अंग है और असम्प्रज्ञात अंगी है। **निष्कर्ष** यह हुआ कि योग साधन भी है और साध्य भी। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और सम्प्रज्ञात समाधि- ये सब असम्प्रज्ञात रूप समाधि के अंग अर्थात् साधन हैं और असम्प्रज्ञात समाधि साध्य है। दोनों का ही नाम योग है।। चित्त की वृत्तियों का निरोध ही योग है। यह योग की निर्दुष्ट परिभाषा है। सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात का स्वरूप आगे वर्णित किया जाएगा।

"योगश्चित्तवृत्तिनिरोध:" योग का यह लक्षण महर्षि पंतजलि ने बहुत सोच समझकर किया है। वे **"योग: सर्वचित्तवृत्तिनिरोध:"** ऐसा लक्षण भी कर सकते थे। अर्थात् चित्त की समस्त वृत्तियों का निरोध योग है, ऐसा लक्षण भी किया जा सकता था। किन्तु ऐसा लक्षण करने से योग का लक्षण असम्प्रज्ञात योग में तो जा सकता था, सम्प्रज्ञात योग में यह लक्षण चरितार्थ न होता, क्योंकि सम्प्रज्ञात योग में राजस और तामस वृत्तियों का निरोध तो रहता है किन्तु ध्येयाकार सात्त्विक वृत्ति विद्यमान रहती है। अत: यह लक्षण सम्प्रज्ञात योग में तो अव्याप्त रहता जबकि सम्प्रज्ञात योग भी योग ही है। लक्षण को तो अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, और असम्भव- इन तीनो दोषों से रहित होना चाहिये। तभी वह लक्षण निर्दोष कहला सकता है। यदि लक्षण में सर्वचित्तवृत्तिनिरोध को योग कहा जाता तो असम्प्रज्ञात योग ही योग कहलाता। उसी अवस्था में समस्त वृत्तियों का निरोध रहता है। अत: सम्प्रज्ञात योग में भी योग के लक्षण को चरितार्थ करने के लिये चित्तवृत्तिनिरोध को ही योग की संज्ञा दी गयी है। असम्प्रज्ञात योग की अवस्था में सात्त्विक वृत्ति का भी अभाव रहता है। इसलिये उसे निर्बीज समाधि कहा गया है

तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीज: समाधि:।

- योगसूत्र 1/51

योग की अन्य परिभाषाएँ

श्रुति, स्मृति, पुराणादि ग्रन्थों में योग की शतशः परिभाषायें दी गयी है। सभी ने योगविद्या का अपने-अपने ढंग से प्रतिपादन किया है। योग किसी दर्शनविशेष का नाम नहीं है अपितु समस्त दर्शनों का उपकारक है। सभी दर्शन तत्त्वज्ञान की प्राप्ति श्रवण,मनन और निदिध्यासन के सम्मिलित आचरण से ही स्वीकार करते हैं। श्रुति, स्मृति, पुराणों में योग की जो परिभाषाएँ दी गयी हैं, उनसे पंतजलिप्रोक्त परिभाषा का आपातरूप से भेद प्रतीत होता है किन्तु विचार करने पर यह भेद सारहीन प्रतीत होता है। वृत्तियों का निरोध किए बिना योग की पूर्णता सम्भव ही नहीं। यहाँ योग की अन्य परिभाषाओं पर विचार करना प्रार्संगिक होगा।

१- याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार-

महर्षि याज्ञवल्क्य ने योग का लक्षण इस प्रकार किया है:

संयोगो योग इत्युक्तो जीवात्मपरमात्मनोः॥

अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा के समानरूपत्वरूप संयोग का नाम योग है।

इस लक्षण में और पूर्वोक्त चित्तवृत्तिनिरोधरूप योग में कोई अन्तर नहीं है। जब तक चित्तवृत्तियों का निरोध नहीं हो जाता, तब तक जीवात्मा और परमात्मा की समानरूपता सम्भव ही नहीं है। वस्तुतः जीवात्मा और परमात्मा का संयोग योग का लक्षण नहीं है अपितु योग का फल है। कभी-कभी कारण और कार्य में अभेद की विविक्षा से कार्य के स्थान पर कारण का भी प्रयोग कर दिया जाता है। जैसे "आयुर्वै घृतम्" इस प्रयोग में घृत को आयु कह दिया गया है। वस्तुतः घृत आयु नहीं है अपितु आयुवृद्धि का कारण है। इसी प्रकार योग का लक्षण तो चित्तवृत्तिनिरोध ही है। चित्त की वृत्तियों का निरोध होने पर जीवात्मा परमात्मा की समरूपता को प्राप्त हो जाता है। जीवात्मा और परमात्मा में इतना ही भेद है कि जीवात्मा क्लेशकर्मादि से युक्त है, परमात्मा क्लेशादि से सर्वथा रहित है। जब जीवात्मा भी योग के द्वारा क्लेशकर्मादि से अत्यन्त मुक्त हो जाता है तो वह भी परमात्मा के सदृश हो जाता है। इसलिये याज्ञवल्क्य के लक्षण में और महर्षि पंतजलि के लक्षण में कोई विरोध नहीं है। जैसा कि आगे पंतजलि ने 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' सूत्र में स्वरूप में अवस्थान को योग का फल कहा गया है। कभी-कभी कारण और कार्य की अभेदविवक्षा में स्वरूपावस्थान को भी योग कह दिया जाता है।

२- लिङ्गपुराण के अनुसार-
लिङ्गपुराण में महर्षि व्यास ने योग का लक्षण किया है:-

सर्वार्थविषयप्राप्तिरात्मनो योग उच्यते।

अर्थात् आत्मा को समस्त विषयों की प्राप्ति होना योग कहा जाता है। उक्त परिभाषा में भी पुराणकार का अभिप्राय योगसिद्धि का फल बताना ही है। समस्त विषयों को प्राप्त करने का सामर्थ्य योग की एक विभूति है। यह योग का लक्षण नहीं है। वृत्तिनिरोध के बिना यह सामर्थ्य प्राप्त नहीं हो सकता।

३- अग्निपुराण के अनुसार -
अग्निपुराण में कहा गया है:-

आत्ममानसप्रत्यक्षा विशिष्टा या मनोगतिः।
तस्या ब्रह्मणि संयोगो योग इत्यभिधीयते॥

अग्निपुराण-379/25

अर्थात् योग मन की एक विशिष्ट अवस्था है। जब मन में आत्मा को और स्वयम् मन को प्रत्यक्ष करने की योग्यता आ जाती है, तब उसका ब्रह्म के साथ संयोग हो जाता है। संयोग का अर्थ है कि ब्रह्म की समरूपता उसमें आ जाती है। यह समरूपता की स्थिति ही योग है।

अग्निपुराण के इस योगलक्षण में पूर्वोक्त याज्ञवल्क्य स्मृति के योगलक्षण से कोई भिन्नता नहीं है। मन का ब्रह्म के साथ संयोग वृत्तिनिरोध होने पर ही सम्भव है।

४- स्कन्दपुराण के अनुसार -

स्कन्दपुराण भी उसी बात की पुष्टि कर रहा है जिसे अग्निपुराण और याज्ञवल्क्य कह रहे हैं। स्कन्दपुराण में कहा गया है:-

यत्समत्वं द्वयोरत्र जीवात्मपरमात्मनोः।
स नष्टसर्वसंकल्पः समाधिरभिधीयते॥
परमात्मात्मनोर्योऽयमविभागः परन्तप।
स एव तु परो योगः समासात्कथितस्तव॥

स्कन्दपुराण

यहाँ प्रथम श्लोक में जीवात्मा और परमात्मा की समता को समाधि कहा गया है तथा दूसरे श्लोक में परमात्मा और आत्मा की अभिन्नता को परम योग कहा गया है। इसका अर्थ यह है कि समाधि ही योग है। वृत्तिनिरोध की अवस्था में ही जीवात्मा और परमात्मा की यह समता और दोनों का अविभाग हो सकता है। यह बात 'नष्टसर्वसंकल्पः' पद के द्वारा कही गयी है।

देवीभागवतपुराण(7-35-2) में - **'ऐक्यं जीवात्मनोराहुर्योगं योगविशारदाः'** इन शब्दों के द्वारा तथा कूर्मपुराण में "मय्येकचित्तता योगो वृत्यन्तरनिरोधतः" इन शब्दों के द्वारा वृत्तिनिरोध को ही जीव और परमात्मा की एकता का द्वार माना गया है।

५- हठयोगप्रदीपिका के अनुसार-

योग के विषय में हठयोग की मान्यता का विशेष महत्त्व है। वहाँ कहा गया है:-

सलिले सैन्धवं यद्वत् साम्यं भजति योगतः।
तथात्ममनसारेैक्यं समाधिरभिधीयते।। ह०प्र०4/5

अर्थात् जिस प्रकार नमक जल में मिलकर जल की समानता को प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार जब मन वृत्तिशून्य होकर आत्मा के साथ ऐक्य को प्राप्त कर लेता है तो मन की उस अवस्था का नाम समाधि है।

यदि हम विचार करें तो यहाँ भी पूर्वोक्त परिभाषा से कोई अन्तर दृष्टिगत नहीं होता। आत्मा और मन की एकता भी समाधि का फल है, उसका लक्षण नहीं है। जैसे जल और नमक की समानता दोनो के संयोग का फल है, संयोग का लक्षण नहीं है। इसी प्रकार मन और आत्मा की एकता योग नहीं है अपितु योग का फल है।

६- भगवद्गीता के अनुसार -

भगवान् कृष्ण ने गीता में प्रसंगवश योग के अनेक लक्षण अर्जुन को कहे है, किन्तु उन सभी लक्षणो में कहीं भी परस्पर विरोध नहीं है। योग और उसके फल में अभेद मानकर गीता में योग के स्वरूप पर विचार किया गया है। षष्ठ अध्याय में वे कहते हैं:-

तं विद्यात् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा।। गीता-६/२३

हे अर्जुन! तू उस अवस्था को जान, जिसमें स्थित हुआ साधक भारी दुःख से भी विचलित नहीं होता तथा जिसमें संसाररूप दुःख सम्बन्ध का अत्यन्त वियोग रहता है। वह योग खेदरहित चित्त से अनुष्ठित होता है।

इस श्लोक में भगवान् ने दुःखसंयोगवियोग को योग कहा है। वस्तुतः दुःख का वियोग तो योगसाधना का फल है, लक्षण नहीं।

सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।
श्रीमद्भगवद्गीता-२/४८

यह भी योग का फल ही है। सिद्धि और असिद्धि में समान वही रह सकता है जिसने मन के समस्त संकल्पों का त्याग कर दिया है और योग की अन्तिम भूमि को प्राप्त कर लिया है।

भगवान् अर्जुन से यह कहना चाहते हैं कि तू कर्म का त्याग न कर अपितु योग में स्थिर होकर कर्म कर- योगस्थः कुरु कर्माणि। वह योगस्थिति क्या है? ऐसी जिज्ञासा होने पर वे आगे कहते हैं कि 'संगं त्यक्त्वा' अर्थात् फलासक्ति को छोड़कर कर्म करना ही योग में स्थित होना है। किन्तु यहाँ फिर वही प्रश्न उपस्थित होता है कि फलासक्ति का त्याग कैसे किया जाए? योग की स्थिति एवं फलासक्ति का त्याग तथा सिद्धि और असिद्धि में समान रहना, यह सब तो तभी सम्भव है जब योग सिद्ध हो जाए। वह योग क्या है? इसका उत्तर यही है कि चित्त की वृत्तियों का निरोध ही योग है। वृत्तियों का निरोध होने पर फलासक्ति स्वयमेव छूट जाएगी। फिर कार्य सिद्ध हो या न हो, इससे योगी का कोई प्रयोजन ही नहीं रह जाता।

भगवान् ने आगे जो योग की व्याख्या की है:-

योगः कर्मसु कौशलम्। श्रीमद्भगवद्गीता-2/50

इस कथन का अभिप्राय भी यही है जो ऊपर कहा गया है। फलासक्ति का त्याग करके कर्म करना ही कर्मकौशल है। कर्म करते हुए यदि कर्ता कर्म में आसक्त हो गया अथवा कर्म ने कर्ता को मोहपाश में जकड़ लिया तो यह कर्मों में कर्ता की कुशलता कहाँ हुई? यह तो कर्ता का महान् अकौशल हुआ। कर्ता की कुशलता तो यह है कि कर्म करके उसको वहीं छोड़ दिया जाये। हानि और लाभ, जय अथवा पराजय, कार्यसिद्धि या असिद्धि के विषय

में चिन्ता ही न की जाये कर्म करते हुए यदि कर्ता उस कर्म का दास होकर रह गया तो यह कर्ता का अस्वातन्त्र्य हुआ। कर्ता तो स्वतन्त्र हुआ करता है। यदि कर्म ने कर्ता को पराधीन कर दिया तो यह कर्म की विजय हुई कर्ता की नहीं। कर्ता का स्वातन्त्र्य तो तब सिद्ध होता जब कर्ता स्वेच्छा से कर्म का और उसके फल का त्याग कर देता। अतः फलासक्ति का त्याग करके कर्म करना ही कर्मकौशल है। फलासक्ति एक प्रकार की चित्तवृत्ति ही है। उस चित्तवृत्ति का त्याग ही तो योग है।

इस प्रकार यह निष्कर्ष हुआ कि **"योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः"**(योगसूत्र) योग का यह लक्षण अन्य समस्त लक्षणों का सार है, सबका बीज है। इसी का अभ्यास करना योगाभ्यास है और इस अभ्यास की पूर्णता ही योगसिद्धि है। संसार से पार होने का यही उपाय है। तभी तो योगवासिष्ठ में व्यास जी कह रहे हैं:-

संसारोत्तरणे युक्तिर्योग इत्यभिधीयते। योगवासिष्ठ

संसारसागर से पार तभी जाया जा सकता है, जब संसार के वाच्य-वाचक रूप समस्त व्यापारों का निरोध हो जाये। इसी को मैत्रायणी उपनिषद् में 'सर्वभावपरित्याग' कह दिया गया है-

सर्वभावपरित्यागो योग इत्यभिधीयते। मैत्रायणी उपनिषद्-6/25

भावपरित्याग का अर्थ भी चित्त की वृत्तियों का परित्याग ही है।

आचार्य गौडपाद इसी वृत्ति को अभिलाप, चिन्ता आदि शब्दों से कह रहे हैं, समाधि का लक्षण वे माण्डूक्यकारिका में बता रहें हैं:-

सर्वाभिलापविगतः सर्वचिन्तासमुत्थितः।
सुप्रशान्तः सकृज्ज्योतिः समाधिरचलोऽभयः॥ माण्डूक्य कारिका

अर्थात् समाधि चैतन्य की वह अवस्था है, जब चित्त समस्त वाच्यवाचक रूप व्यापार से रहित होता है, समस्त चिन्ताएँ जब निरुद्ध रहती हैं, जब चित्त सुप्रशान्त, प्रकाशमय, अचल और अभय होता है। कठोपनिषद् का ऋषि इस अवस्था को इन्द्रियों की स्थिरता के रूप में परिभाषित कर रहा है-

तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्॥ कठोपनिषद्

यहाँ स्थिर इन्द्रियधारणा का अर्थ चित्त की वृत्तियों की निरुद्ध अवस्था ही है। मन भी अन्तरिन्द्रिय ही है। इसलिए इन्द्रिय शब्द का अर्थ एकादश इन्द्रिय ही लेना चाहिये। वृत्तिशून्यता ही उनकी स्थिरता है। चित्तवृत्तिनिरोध का नाम ही योग है। पंतजलि का यह लक्षण सर्वथा निर्दोष है, यह निष्कर्ष हुआ।

चित्त की अवधारणा

महर्षि पंतजलि ने चित्तवृत्तिनिरोध को योग की संज्ञा दी है। यहाँ जिज्ञासा होती है कि यह चित्त क्या वस्तु है? जिज्ञासा का कारण यह है कि हमारे जीवनकाल में समस्त व्यवहार चित्त से ही सम्पादित होते हैं। चित्त के अतिरिक्त शरीर, इन्द्रिय, प्राणादि व्यापार का नियामक कोई तत्त्व दृष्टिगोचर नहीं होता। तो क्या यह चित्त आत्मा से भिन्न कोई अन्य तत्त्व है? आत्मा तो अपरिणामी माना गया है। उसकी वृत्तियाँ कभी नहीं होती, जबकि चित्त प्रतिक्षण परिणामी है। चित्त का परिणाम ही वृत्ति कहलाती है। तो फिर आत्मा से व्यतिरिक्त चित्त क्या वस्तु है? यह जानने की स्वाभाविक इच्छा होती है।

वास्तव में चित्त का स्वरूप बड़ा विलक्षण है। यद्यपि यह आत्मा से भिन्न तत्त्व है फिर भी आत्मा से पृथक् करके इसको देखना अत्यन्त कठिन है। यद्यपि अहं प्रत्यय के रूप में आत्मा को प्रत्यक्ष माना गया है किन्तु व्यवहार में तो अहं प्रत्यय चित्त की ओर इंगित करता है। 'अहं कामी, अहं क्रोधी, अहं गच्छामि, अहं पश्यामि' इत्यादि व्यवहारों में जो अहम् की प्रतीति हो रही है, यह स्पष्टतया चित्त का ही धर्म है, आत्मा का नहीं। आत्मा तो निष्क्रिय, कूटस्थ और विभु है। उसमें तो गमन, दर्शन, श्रवण आदि क्रियाएँ सम्भव नहीं।

किन्तु जड़ होने से चित्त में भी ये क्रियाएँ हो सकती हैं। इस प्रकार आत्मा और चित्त दोनों का कार्य और स्वरूप इतना मिलाजुला सा है कि दोनों को पृथक् करके देखना अति कठिन प्रतीत होता है। फिर भी चित्त पृथक् तत्त्व है और आत्मा पृथक् तत्त्व है।

चित्त प्रकृति का सात्त्विक परिणाम है। प्रकृति चूँकि त्रिगुणात्मक है, अत: चित्त भी त्रिगुणात्मक है। त्रिगुणात्मक होते हुए भी चूँकि इसकी रचना में सत्त्व की प्रधानता होती है। अत: यह प्रकृति का प्रथम सात्त्विक परिणाम माना जाता है। चित्त के स्वरूप को जानने से पहले प्रकृति के स्वरूप पर विचार कर लेना आवश्यक है।

सत्त्व, रजस् और तमस् इन तीनो गुणों की साम्यवास्था का नाम प्रकृति है। साम्यावस्था का अर्थ है कि जितनी मात्रा में सत्त्व है उतनी ही मात्रा में रजोगुण है और उतनी ही मात्रा में तमस् है तो यह त्रिगुण की साम्यावस्था कहलाती है। इस साम्यावस्था में प्रकृति से कोई भी तत्त्व उत्पन्न नहीं होता। यह सृष्टि की प्रलयावस्था कहलाती है। जब पुन: सृष्टिकाल आता है तो गुणों में क्षोभ होता है और वैषम्य उपस्थित होता है। सर्वप्रथम तीनों गुणों में से

सत्त्व गुण बढ़ जाता है और इसी के साथ महत्तत्त्व का उदय होता है। यह महत्तत्त्व ही बुद्धि या चित्त कहलाता है।

गुणों के स्वभाव में बहुत भिन्नता है। सत्त्वगुण प्रकाशशील है, रजोगुण क्रियाशील है, और तमोगुण आवरणशील है। किसी भी कार्य को करने में इन तीनों की ही न्यूनाधिक उपयोगिता है। चित्त भी त्रिगुणात्मक है, इसे ही व्यासदेव ने **"प्रख्याप्रवृत्तिस्थितिशीलत्वात् त्रिगुणम्"**(योगसूत्र व्यासभाष्य) ऐसा कहा है।

चित्त का स्वरूप तब तक स्पष्ट नहीं हो सकता, जब तक चित् का स्वरूप न जान लिया जाये। सांख्य और योग मत में चित्, चिति, चैतन्य पुरुष और आत्मा ये सब पर्यायवाचक शब्द हैं। चित् अपने आप में अपरिणामी, कूटस्थ और निष्क्रिय है। इसी चित् अथवा पुरुष तत्त्व को भोग और मोक्ष देने के लिए इसके साथ प्रकृति का संयोग होता है। प्रकृति का प्रथम परिणामरूप बुद्धि या चित्त तत्त्व ही भोग और मोक्षरूप प्रयोजन की सिद्धि करता है।

चित् के संयोग से बुद्धि चित्त कहलाती है-'चिद्युक्तं चित्तम्' यही चित्त शब्द की व्युत्पत्ति है। 'चिद्युक्तम्' का अर्थ है कि पुरुष के सम्पर्क से बुद्धि चेतनवत् हो जाती है। इसलिए उसे चित्त कह दिया गया है। चेतनवत् होते ही चित्त मे कार्य करने की क्षमता आ गयी। चित्त के सम्पर्क से पुरुष में यह परिवर्तन आया कि वह चित्त के किए गए कार्यों को अपना कार्य मान बैठा। जो कर्त्तृत्व और भोक्तृत्व चित्त का धर्म था, अंहकारवश पुरुष स्वयम् को कर्ता और भोक्ता मान बैठा। सांख्य और योगमत का यही सार भगवान् ने गीता में कहा है:-

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥ श्रीमद्भगवद्गीता-3/27

सांख्य और योगमत में कार्य को परिणाम कहा जाता है, जैसे दधि दुग्ध का परिणाम है। परिणाम के लिए पूर्वरूप का त्याग और उत्तररूप का ग्रहण करना होता है। दधि बनने के लिए दुग्ध अपने मधुरता, तरलता, रेचकता के धर्म का त्याग करता है तथा अम्लता, कठिनता तथा मलावरोधकता आदि धर्मो को ग्रहण करता है। प्रकृति अपने साम्यावस्थारूप पूर्वस्थिति का त्याग करती है। पुनः महत्तत्त्वरूप धर्मान्तर को प्राप्त करती है। इसलिए महत्तत्त्व प्रकृति का परिणाम कहा जाता है।

इसे महत्तत्त्व इसलिये कहा जाता है क्योंकि यह प्रकृति का प्रथम परिणाम होने से सबसे अधिक महान् है। इसी महत्तत्त्व से अहंकार, एकादश इन्द्रियाँ, पंचतन्मात्र और पंचमहाभूत उत्पन्न होते हैं। इसी महत्तत्त्व का नाम बुद्धि भी है, क्योंकि पदार्थों का ज्ञान इसी से होता है। इसी बुद्धि को चेतनवत् होने के कारण चित्त कहा जाता है।

यद्यपि चित्त एक है किन्तु त्रिगुण का परिणाम अनेकविध होने से यह अनेक सा प्रतीत होता है। चित्त को अन्तःकरण या अन्तरिन्द्रिय कहा जाता है। योगदर्शन में अन्तःकरण के लिए चित्त शब्द का अधिक प्रयोग हुआ है। न्यायदर्शन में अन्तःकरण के लिए मन शब्द का अधिक व्यवहार हुआ है। अद्वैत वेदान्त में अन्तःकरण के चार भेद स्वीकार किए गए है:- मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त। संशय, निश्चय, गर्व और स्मरण इनकी वृत्तियाँ है।:-

मनोबुद्धिरहंकारश्चित्तं करणमान्तरम्।
संशयो निश्चयो गर्वः स्मरणमिति वृत्तयः॥

वेदान्त परिभाषा

संशय मन का कार्य है, निश्चय बुद्धि करती है, अभिमान करना अहंकार का कार्य है तथा स्मरण चित्त का धर्म है। ऐसा वेदान्ती कहते हैं। किन्तु योग दर्शन में चित्त शब्द से इन चारों का ही ग्रहण समझना चाहिये। कार्यभेद से चित्त के ही अनेक नाम हो गये हैं।

वृत्ति क्या है?

चित्त का रूपान्तरण ही वृत्ति है। चित्त स्फटिक मणि के समान निर्मल तत्त्व है। उसका अपना कोई आकार नहीं होता। जिस विषय के सम्पर्क में वह आता है, उसी के आकार को धारण कर लेता है। यह विषयाकारता ही वृत्ति कहलाती है। चित्त को एक नदी ही समझो। जैसे नदी का जल वायु के वेग से प्रकम्पित होकर असंख्य तरंगों के आकार में परिणत हो जाता है, उन तरंगों में फिर गमनादि क्रिया होती है। गमन क्रिया होने पर तरंगे, इधर-उधर भ्रमण करने लगती हैं, गर्तादि में जाकर गर्ताकार को धारण कर लेती हैं। जब वायु की गति शान्त हो जाती हैं, तो वे तरंगें अपने प्रवाह में ही लीन हो जाती हैं।

इसी प्रकार चित्तरूपी नदी में भी विषयज्ञान से जनित संस्काररूपी पवन की प्रेरणा से अनेक प्रकार की क्षोभरूप तरंगें उठा करती हैं, तथा वे तरंगें चक्षुरादि इन्द्रियों से बाहर निकल कर बाह्य घटादि विषयों के आकार को धारण कर लेती हैं। जब कभी बहिर्मुख नहीं हो पातीं तो स्वकारण चित्त में ही काम, क्रोध, मोह, राग, द्वेषादि रूप से परिणत होती रहती हैं। चित्त के इसी विषयाकार परिणाम को वृत्ति कहते हैं। चित्त की वृत्तियों का यह प्रवाह नैसर्गिक और अनादिसिद्ध है। चित्त की वृत्तियों का यह अनादिसिद्ध प्रवाह जब चित्त में ही विलीन होकर रुक जाता है तो यह चित्तवृत्तिनिरोध कहा जाता है।

चित्त की वृत्तियों का यह अनादिसिद्ध प्रवाह सहसा निरुद्ध नहीं किया जा सकता। इसके लिए दृढ अभ्यास और वैराग्य की आवश्यकता होती है। अभ्यास से वैराग्य को पुष्ट करना होता है और वैराग्य से अभ्यास में दृढ़ता आती है। इस प्रकार अभ्यास और वैराग्य के सम्मिलित अभ्यास से चित्तवृत्ति का निरोध होता है। अभ्यास और वैराग्य का विस्तृत विवेचन आगे किया जायेगा। इस चित्तवृत्तिनिरोध के दो फल हैं- क्लेशादि का नाश और स्वरूप में स्थिति। सर्वप्रथम वृत्तिनिरोध से साधक के क्लेश, कर्म और कर्माशय का नाश होता है। कर्माशय के नाश से आगामी जन्मों का नाश हो जाता है और फिर विवेकख्याति के उदय के साथ उसका स्वरूप में अवस्थान होता है। यही कैवल्य की अवस्था है।

चित्त की भूमियाँ

एक साधक की जीवनयात्रा में चित्त जिन-जिन स्तरों पर कार्य करता है अथवा जिन-जिन अवस्थाओं में कार्य कर सकता है, उन अवस्थाओं को चित्त की भूमि कहा जाता है। चित्त की ये भूमियाँ पाँच हैं- क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। यूँ तो चित्त की अनेक अवस्थाएँ हो सकती हैं क्योंकि जितने विचार और परिस्थितियाँ जीवन में उपस्थित होती हैं, उतनी ही चित्त की भूमियाँ है किन्तु मुख्य रूप से पाँच ही भूमियाँ हैं। अन्य भूमियों का समावेश इन्हीं पाँचों में हो जाता है। इन अवस्थाओं का संक्षिप्त स्पष्टीकरण इस प्रकार है-

1- **क्षिप्त :**

शब्द, स्पर्श, रूप, रस, और गन्ध- ये पाँच इन्द्रियों के विषय हैं। श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना और घ्राण-ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। दिव्य और अदिव्य के भेद से ये इन्द्रिय और विषय दस-दस प्रकार के हो जाते हैं। सुख की आशा में चित्त निरन्तर भ्रमण करता रहता है, किन्तु इन विषयों में भ्रमण करते हुए उसे वास्तविक सुख नहीं मिलता, केवल सुख की लालसा ही बढ़ती रहती है। कभी इस विषय में और कभी उस विषय में भ्रमण करते हुए चित्त निरन्तर अस्थिर बना रहता है। कभी स्थिरता उसमें नहीं आ पाती। ऐसा चित्त क्षिप्त कहलाता है। धन, बल तथा यौवन के मद से मत्त मनुष्य दैत्य, दानवादि का चित्त प्राय: क्षिप्त ही होता है। विषयासक्त पुरुषों का नितान्त अस्थिर चित्त क्षिप्त कहलाता है। इसमें रजोगुण की अधिकता होती है।

2- **मूढ :**

तमोगुण की अत्यन्त वृद्धि से जन्य क्रोधादि के कारण जब चित्त कर्तव्य-अकर्तव्य का निश्चय करने में असमर्थ हो जाता है, तब वह चित्त मूढ कहलाता है। ऐसे चित्त वाला पुरुष शास्त्रविरूद्ध कर्मो का आचरण करता है तथा निद्रा, तन्द्रा, आलस्य, प्रमाद आदि वृत्तियों वाला होता है। ऐसा चित्त राक्षस, पिशाचादि का तथा मादक द्रव्यों का सेवन करने वाले पुरुषों का होता है। क्षिप्त की तुलना में मूढ चित्त कुछ श्रेष्ठ होता है क्योंकि इसमें अस्थिरता कुछ कम होती है।

3- विक्षिप्त

सत्त्वगुण की वृद्धि से किसी-किसी समय स्थिरता को प्राप्त होने वाला चित्त विक्षिप्त कहलाता है। कभी-कभी प्रियजन की मृत्यु से अथवा शोकवस्तु के आघात से चित्त ईश्वरभक्ति की दिशा में चल पड़ता है, किन्तु विषयों के आकर्षण से चंचलित होकर पुन: उस मार्ग को छोड़ देता है। ऐसा क्रम जीवन में कभी-कभी घटित होता है। यह चित्त क्षिप्त और मूढ से कुछ श्रेष्ठ होता है। ऐया चित्त प्राय: देवताओं का तथा प्रथम बार योगभूमिका पर आरूढ योगजिज्ञासुओं का होता है।

4- एकाग्र

बाह्य वृत्तियाँ जब पूर्ण रूप से निरुद्ध हो जाती हैं और ध्येयाकार एक आभ्यन्तर वृत्ति ही शेष रहती है, ऐसा चित्त एकाग्र कहलाता है। ऐसा चित्त प्रथम कक्षा के योगियों का होता है।

5- निरुद्ध

निरन्तर अभ्यास से जब योगी की उस ध्येयाकारवृत्ति का निरोध हो जाता है तथा जिसमें केवल संस्कार ही शेष रहते हैं, ऐसा चित्त निरुद्ध कहलाता है। ऐसा चित्त सिद्धयोगियों का होता है। यह योगी के चित्त की अन्तिम भूमि है, जहाँ पहुँच कर चित्त कृतकार्य हो जाता है।

उपर्युक्त भूमियों में क्षिप्त, मूढ और विक्षिप्त चित्त योगकोटि मे नहीं आता। यद्यपि क्षिप्त, मूढ और विक्षिप्त चित्त में भी यत्किंचित् वृत्तिनिरोध होता है। जैसा कि व्यासदेव ने स्वयम् कहा है कि-'स च सार्वभौमश्चित्तस्य धर्म:' अर्थात् निरोध चित्त का सार्वभौम धर्म है, फिर भी क्षिप्त, मूढ और विक्षिप्त भूमि वाला चित्त योग के लिए उपादेय नहीं होता । एकाग्रभूमि चित्त ही योगकोटि में गिना जाता है क्योंकि इसी भूमि में वृत्तियों का निरोध होता है। यह चतुर्थभूमिक एकाग्रचित्त ही सम्प्रज्ञात योग कहलाता है। इसके आगे पंचम भूमि जो निरुद्ध है, उसमें स्थित चित्त की अवस्था असम्प्रज्ञात योग कहलाती है।

सम्प्रज्ञात योग की व्याख्या करते हुए भाष्यकार व्यासदेव कहते हैं-
"यस्त्वेकाग्रे चेतसि सद्भूतमर्थं प्रद्योतयति क्षिणोति च क्लेशान् कर्मबन्ध नानि श्लथयति निरोधमभिमुखं करोति स सम्प्रज्ञातो योग इत्याख्यायते।"
योगसूत्र (व्यासभाष्य)

अर्थात्- सम्प्रज्ञात योग ध्येयस्वरूप का सम्यक् साक्षात्कार कराता है, अविद्या अस्मिता राग द्वेष और अभिनिवेश इन पाँच क्लेशों को क्षीण करता है तथा कर्मबन्धनों को शिथिल करता है और सर्ववृत्तिनिरोधरूप असम्प्रज्ञात योग को निकट लाता है, इसीलिए यह एकाग्रचित्त सम्प्रज्ञातयोग कहलाता है।

एकाग्रभूमि में रजोगुण तथा तमोगुण से युक्त प्रत्यक्षादि प्रमाण वृत्तियाँ सात्त्विक होकर सम्प्रज्ञात योग में लीन हो जाती हैं। पुनः पंचम भूमि में चित्त की वृत्तियों का जो निरोध होता है, वह असम्प्रज्ञात नामक मुख्य योग कहा जाता है। इस अवस्था में सर्ववृत्तियाँ निश्शेष रूप से निरुद्ध हो जाती हैं।

स्वरूपावस्थान

सर्ववृत्तिनिरोधरूप असम्प्रज्ञात योग सिद्ध हो जाने पर पुरुष की स्वरूप में अवस्थिति होती है। **'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्'** ऐसा पंतजलि का मत है। जिज्ञासा होती है कि पुरुष का वह स्वरूप कैसा है और उस स्वरूप में अवस्थिति का क्या अर्थ है? सांख्ययोग में पुरुष के स्वरूप को जानने के लिये प्रकृति के स्वरूप को जानना आवश्यक है। प्रकृति के स्वरूप से विपरीत पुरुष का स्वरूप है।

प्रकृति त्रिगुणात्मक है, विवेकरहित है, विषय है, सामान्य अचेतन तथा प्रसवधर्मी है। इसके विपरीत पुरुष त्रिगुण से रहित है, विवेकशील है, अविषय है, विशेष है, चेतन तथा अप्रसवधर्मी है। इसके अतिरिक्त वह अहेतुमान्, नित्य, व्यापक, निष्क्रिय, अनाश्रित, अलिङ्ग, निरवयव और स्वाधीन है। (द्रष्टव्य सांख्यकारिका 10-11)

चित्त चूँकि त्रिगुणात्मक है, इसलिए शान्त घोर तथा मूढरूप है। चित्त के सम्पर्क से पुरुष को तादात्म्य का अभिमान होने से पुरुष में भी वे शान्त, घोर, मूढ़रूप धर्म भासने लगते हैं। असम्प्रज्ञातयोग सिद्ध होने पर शान्तादि वृत्तियाँ स्वकारण प्रकृति में लीन हो जाती हैं। तब पुरुष में उन वृत्तियों का भासना बन्द हो जाता है। उस अवस्था में पुरुष स्वरूप में अवस्थित हो जाता है।

यद्यपि पुरुष चितिशक्तिरूप, कूटस्थ, नित्य होने से अपने स्वरूप से कभी भी च्युत नहीं होता। वह जैसा निरोधकाल में है, वैसा ही व्युत्थानकाल में भी है किन्तु व्युत्थानकाल में अविवेक के कारण वैसा प्रतीत नहीं होता। जिस प्रकार रस्सी में जब सर्प की भ्रान्ति होती है तो रस्सी का अभाव नहीं होता और भ्रान्तिनाश के समय रस्सी की उत्पत्ति नहीं होती । रस्सी पहले भी रस्सी थी और बाद में भी रस्सी ही रहती है किन्तु भ्रान्तिकाल में अविवेक होने के कारण रस्सी का भान रस्सी के रूप में नहीं होता, इसी प्रकार चैतन्यरूप पुरुष भी अखण्डैकरस है, किन्तु व्युत्थानकाल में अविवेक के कारण विपरीत रूप से भासता है तथा निरोधकाल में स्वरूप से भासता है। इतना ही दोनों में अन्तर है। इसलिये "तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्" इस कथन से यह नहीं समझना चाहिये कि निरोधकाल में पुरुष का स्वरूप से अवस्थान होता है। स्वरूप में अवस्थित तो वह पहले भी था, किन्तु वह अवस्थान भासित नहीं होता था। निरोधकाल में वह शान्त घोर मूढरूप से रहित निस्त्रैगुण्य शुद्धचितिशक्ति के रूप में भासता है। स्वरूपावस्थान का यही अर्थ है।

चित्तवृत्ति के भेद

चित्त की जिन वृत्तियों का निरोध योग नाम से कहा गया है, वे वृत्तियाँ पाँच प्रकार की हैं- प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति। यद्यपि चित्त की वृत्तियाँ असंख्य हैं किन्तु सबका समावेश इन पाँचों ही वृत्तियों में हो जाता है। व्यासभाष्य के अनुसार इन वृत्तियों का विवेचन इस प्रकार है-

प्रमाण विपर्यय विकल्पनिद्रास्मृतयः। योगसूत्र- 1/6

1- **प्रमाण वृत्ति :**

'प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणम्' जिससे प्रमा का ग्रहण होता है वह प्रमाण कहलाता है। अर्थात् प्रमा के साधन का नाम प्रमाण है। अतः 'प्रमाकरणं प्रमाणम्' यह प्रमाण का सामान्य लक्षण है। अनधिगत तथा अबाधित विषय का जो ज्ञान है वह प्रमा है। अनधिगत कहने का अभिप्राय यह है कि स्मृति प्रमा नहीं है, क्योंकि स्मृति अधिगत विषय का ज्ञान है। अबाधित कहने का उद्देश्य यह है कि शुक्ति में जो रजत का भ्रमज्ञान है, वह बाधित विषय का ज्ञान है क्योंकि कालान्तर में 'नेदं रजतम्' इस उत्तरवर्ती ज्ञान से पूर्वज्ञान का बाध हो जाता है।

प्रमा फल है और प्रमाण उसका साधन है। सांख्ययोगमत में पौरुषेयबोध ही प्रमा है तथा बुद्धिवृत्ति प्रमाण है। अर्थात् बुद्धिनिष्ठ जो ज्ञान है, वह प्रमाण है तथा पुरुषनिष्ठ जो यथार्थ अनुभव है, वह प्रमा है। यह प्रमा तीन प्रकार की है- प्रत्यक्ष प्रमा, अनुमिति प्रमा तथा शाब्दी प्रमा। इनके करण भी तीन हैं-इन्द्रिय, लिङ्गज्ञान तथा पदज्ञान। इस प्रकार योगमत में तीन ही प्रमाण हैं- प्रत्यक्ष अनुमान और आगम।

क) **प्रत्यक्ष प्रमाण :**

इन्द्रियप्रणालिकया चित्तस्य बाह्यवस्तूपरागात् तद्विषया सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य विशेषावधारणप्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्षं प्रमाणम्।

योगसूत्र (व्यासभाष्य) -1/7

अर्थात् - इन्द्रियों के द्वारा चित्त का बाह्य विषयों से सम्बन्ध होने से, उनको अपना विषय करने वाली सामान्यविशेषरूप पदार्थ के विशेष अंश को प्रधान रूप से निश्चय करने वाली वृत्ति प्रत्यक्ष प्रमाण कहलाती है।

भाव यह है कि चित्त का बाह्य विषय के साथ साक्षात् सम्बन्ध नहीं हो सकता तो भी इन्द्रिय द्वारा चित्त का विषय के साथ सम्बन्ध होता है। इस कथन से क्षणिक विज्ञानवादी बौद्धौं के मत का प्रत्याख्यान हो जाता है, जो बाह्यविषय की सत्ता को स्वीकार नहीं करते।

कुछ दार्शनिक कहते हैं कि सामान्य ही पदार्थ है, कुछ कहते हैं कि विशेष ही पदार्थ है और कुछ का मत है कि पदार्थ सामान्य और विशेष से युक्त है। किन्तु सांख्य और योग के अनुसार पदार्थ न तो सामान्य रूप है, न विशेष रूप है और न ही सामान्य विशेष से युक्त है अपितु पदार्थ सामान्यविशेषरूप है। निष्कर्ष यह हुआ कि इन्द्रिय द्वारा घटादि विशेष के आकार वाली जो चित्तवृत्ति है, वह प्रत्यक्ष प्रमाण है।

ख) अनुमानप्रमाण :

'अनुमेयस्य तुल्यजातीयेष्वनुवृत्तो भिन्नजातीयेभ्यो व्यावृतः सम्बन्ध ो यस्तद्विषया सामान्यावधारणप्रधाना वृत्तिरनुमानम्।'

योगसूत्र(व्यासभाष्य) -1/7

अर्थात् अग्नि आदि अनुमेय साध्य का, पर्वतादि पक्ष सदृश महानसादि मे रहने वाला तथा भिन्नजातीय तडागादि में नहीं रहने वाला जो व्याप्तिरूप सम्बन्ध है, तद्विषयक सामान्य अंश को प्रधानरूप से विषय करने वाली जो बुद्धिवृति है, वह अनुमानप्रमाण कहलाती है। जैसे चन्द्र तारागण गति वाले हैं क्योंकि वे एक स्थान से दूसरे पर जाते हैं जैसे चैत्र। जो एक स्थान से दूसरे स्थान पर नहीं जाता वह गतिमान् भी नहीं जाता, जैसे विन्ध्य पर्वत।

ग) आगमप्रमाण :

आप्तेन दृष्टोऽनुमितो वाऽर्थः परत्र स्वबोधसंक्रान्तये शब्देनोपदिश्यते शब्दात् तदर्थविषया वृत्तिः श्रोतुरागमः।

योगसूत्र (व्यासभाष्य) -1/7

अर्थात् आप्तपुरुष के द्वारा प्रत्यक्ष अथवा अनुमान से ज्ञात विषय को दूसरे में तद्विषयक ज्ञान उत्पन्न करने के लिए शब्द के द्वारा उपदेश किया जाता है। वहाँ शब्द से उस अर्थ को विषय करने वाली जो श्रोता की वृत्ति है, वह आगमप्रमाण कहलाती है।

भाव यह है कि जो तत्त्वज्ञानी हैं, कारुण्यादि से युक्त हैं तथा यथादृष्ट और यथाश्रुत अर्थ का कथन करते हैं, वे पुरुष आप्त कहे जाते हैं। इस आध ार पर भ्रमादि दोष से रहित, ईश्वर से उच्चरित वेद आगम प्रमाण माने जाते हैं। मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्र यद्यपि ईश्वर से उच्चरित नहीं हैं, तथापि वेदमूलक होने से प्रमाण हैं। चार्वाक शाक्यादि के वचन अप्रमाण हैं क्योंकि वे अनाप्त हैं। यही बात भृगमुनि ने कही है-

यः कश्चित् कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः॥

अर्थात् भगवान् मनु ने वर्णाश्रमधर्म का जो प्रतिपादन किया है, वह सब वेद में प्रतिपादित है क्योंकि मनु सम्पूर्ण वेद के ज्ञाता होने से सर्वज्ञ हैं।

2- विपर्यय:

मिथ्याज्ञान को विपर्यय कहते हैं क्योंकि यह पदार्थ के यथार्थ रूप में प्रतिष्ठित नहीं होता । यही लक्षण योगसूत्रकार ने किया है-

विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्‌रूपप्रतिष्ठम्। योगसूत्र -1/8

अर्थात् निजरूप में स्थित न रहने वाला जो मिथ्या ज्ञान है, वह विपर्यय कहलाता है। उदाहरण के लिए शुक्ति में रजत का ज्ञान जैसा वर्तमान काल में भासता है, वैसा उत्तरकाल में शुक्ति तत्त्व का साक्षात्कार होने पर नहीं भासता अपितु शुक्तिरूप से भासता है। अतः शुक्तिरजतज्ञान मिथ्याज्ञान है, अतः यह विपर्यय कहलाता है। यह विपर्ययवृत्तिरूप मिथ्याज्ञान प्रमाण नहीं।

इस विपर्ययवृत्ति को अविद्या भी कहते हैं। इस अविद्या की पाँच गाँठें हैं, इसलिए इसे पंचपर्वा कहा जाता है। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश- ये अविद्या के पाँच पर्व हैं। इन्हीं का नाम क्लेश भी है। इन पाँचों को क्रमशः तम, मोह, महामोह, तामिस्र और अन्धतामिस्र भी कहा जाता है।

3- विकल्पवृत्ति :

'शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः।' यो सू 1/9

वस्तुशून्य होने पर भी शब्दजन्यज्ञान के प्रभाव से जो व्यवहार देखा जाता है, वह विकल्प वृत्ति है। जैसे -वन्ध्यापुत्रः आगच्छति- वन्ध्या का पुत्र आ रहा है, ऐसा सुनने पर वन्ध्यापुत्र के आकार वाली चित्तवृत्ति बनती है, जबकि वन्ध्यापुत्र नहीं होता।

इसी प्रकार **'चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपम्'**

चैतन्य पुरुष का स्वरूप है, यह वाक्य सुनने पर ऐसा प्रतीत होता है जैसे चैतन्य में और पुरुष में भेद हो , जबकि चैतन्य ही पुरुष है। अतः यह विकल्प वृत्ति है।

इसी प्रकार **'निष्क्रियः पुरुषः '** ऐसा सुनने पर पुरुष में क्रिया का अभाव

प्रतीत होता है, जबकि अभाव नाम का कोई पदार्थ सांख्ययोगमत में नहीं होता। पुरुष स्वयम् ही क्रिया का अभावरूप है। इसी प्रकार 'तिष्ठति बाणः' बाण ठहरता है, ऐसा सुनने पर ऐसी वृत्ति बनती है, मानो बाण कोई चेतन वस्तु हो और उसमें ठहरने की क्रिया हो रही हो। ये सब उदाहरण विकल्पवृत्ति के हैं।

विकल्पवृत्ति का अन्तर्भाव प्रमाणवृत्ति में नहीं हो सकता, क्योंकि विकल्प एक आरोपित ज्ञान है। इसका अन्तर्भाव विपर्यय में भी सम्भव नहीं है क्योंकि विपर्यय वृत्ति वस्तुशून्य नहीं होती। दूसरा कारण यह है कि विपर्यय वहाँ होता है जहाँ दोष हो किन्तु विकल्प तो दोष के बिना भी साधारण और असाधारण सभी पुरुषों को होता है। अतः विकल्प एक स्वतन्त्र वृत्ति है।

शब्दज्ञानानुपाती शब्द से इसका शब्दप्रमाण में अन्तर्भाव नहीं समझना चाहिये , क्योंकि शब्द प्रमाण वस्तुशून्य नहीं होता तथा आप्तवाक्य ही शब्दप्रमाण कहलाता है किन्तु विकल्प वृत्ति तो आप्त और अनाप्त दोनों की ही बनती है।

4- निद्रावृत्तिः

प्रमाण, विपर्यय और विकल्प के समान निद्रा भी एक वृत्ति है, ऐसा सांख्ययोग का सिद्धान्त है। नैयायिक निद्रा को वृत्ति नहीं मानते। उनके मत में निद्रा ज्ञानाभावरूप है। निद्रा का स्वरूप पंतजलि के अनुसार इस प्रकार है-

अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा। योगसूत्र-1/10

अर्थात् - जाग्रत् तथा स्वप्न के पदार्थो की वृत्तियों के अभाव का कारणभूत जो सत्त्व, रजस् का आवरक तमोद्रव्यरूप अज्ञान है, उस अज्ञान को विषय करने वाली वृत्ति निद्रा है। इसी चित्तवृत्ति का दूसरा नाम सुषुप्ति है। इसी निद्राविशिष्ट पुरुष को श्रुतियों में सुषुप्त तथा प्राज्ञ कहा गया है।

निद्रा में वृत्तियों का सर्वथा अभाव होता है , ऐसा भी कुछ दार्शनिकों का मत है। सांख्य योग के आचार्यो को यह विचार मान्य नहीं । उनका कहना है कि सुषुप्ति से जागने पर यह स्मृति होती है कि **'सुखमहस्वाप्सम्'** - मैं सुखपूर्वक सोया। **'दुःखमहस्वाप्सम्'** - मैं कष्ट से सोया, अथवा 'गाढं मूढोऽहमस्वाप्सम्'- मैं गाढ निद्रा में मूढ होकर सोया था। यह स्मृति बताती है कि निद्राकाल में सुखादि की वृत्ति विद्यमान थी। यदि वृत्ति न होती तो सुखादि का स्मरण क्यों होता? इसलिये निद्रा भी एक वृत्तिविशेष है। स्वरूपावस्थान के लिए इसका भी निरोध आवश्यक है।

5- स्मृतिवृत्तिः

अनुभव किये गये विषयों का फिर से चित्त में आरोहपूर्वक जो अनुभवमात्रविषयक चित्तवृत्ति है, वह स्मृति कहलाती है-

अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः। योगसूत्र 1/11

यह स्मृति दो प्रकार की होती है- अयथार्थ स्मृति और यथार्थ स्मृति। कल्पित मिथ्यापदार्थ का स्मरण करने वाली स्मृति अयथार्थ है और अकल्पित यथार्थ पदार्थ का स्मरण करने वाली स्मृति यथार्थ होती है। स्वप्नावस्था में जो पदार्थ का ज्ञान है, वह अयथार्थ स्मृति है और जाग्रत् अवस्था में जो सत्य पदार्थ का स्मरणरूप ज्ञान है, वह यथार्थ स्मृति है।

भाव यह कि जैसे रज्जुसर्पादि मिथ्यापदार्थ का अनुभव वास्तव में अनुभव नहीं होता अपितु अनुभवाभास होता है, वैसे ही स्वप्न में जो कल्पित विषय वाली स्मृति है, वह स्मृति नहीं किन्तु स्मृत्याभास है।

इस प्रकार पूर्वोक्त प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति- ये पाँच प्रकार की सभी वृत्तियाँ निरोद्धव्य हैं क्योंकि ये सुख दुःख और मोहरूप हैं। सुख दुःख और मोह तो क्लेशों के ही अन्दर परिगणित हैं। क्लेशरूप होने से सभी का निरोध आवश्यक है। इन वृत्तियों का निरोध होने पर सम्प्रज्ञातसमाधि तथा सम्प्रज्ञातसमाधि के द्वारा असम्प्रज्ञातसमाधि का लाभ योगियों को होता है।

चित्तवृत्ति निरोध के उपाय

प्रमाण, विपयर्य, विकल्प, निद्रा और स्मृति - ये पाँचों ही वृत्तियों का निरोध योग कहा जाता है। ये वृत्तियाँ क्लेश की भी हेतु हैं और अक्लेश की भी हेतु होती हैं। जो वृत्तियाँ साक्षात् क्लेश की हेतु नहीं होती, वे भी क्लिष्टवृत्तियों के प्रवाह में पतित होने से क्लेश की ही हेतु मानी गयी हैं। इसलिए क्लिष्ट और अक्लिष्ट दोनों ही वृत्तियों का निरोध स्वरूपावस्थान के लिए आवश्यक है।

इन वृत्तियों का निरोध कैसे किया जाए? यह योगदर्शन की महत्त्वपूर्ण समस्या है। महर्षि पतंजलि ने योग साधकों की योग्यता का ध्यान रखते हुए वृत्ति निरोध के अनेक उपायों का उल्लेख योगसूत्र में किया गया हैं कुछ योगसाधक शरीर, इन्द्रिय और बुद्धि से दृढ और बलवान् होते हैं जो योग के विघ्नों का अतिक्रमण करते हुए भी निरन्तर योग मार्ग पर अग्रसर रहते हैं। कुछ साधक योग साधना की दृढ इच्छा तो रखते हैं किन्तु वे शरीर, इन्द्रिय और बुद्धि से दुर्बल होते हैं। अतः योगान्तरायों से व्याहत होकर बीच में ही साधना का त्याग कर सकते हैं। अतः सभी के लिए वृंत्तिनिरोध के उपाय एक जैसे नहीं हो सकते । इस दृष्टि से योगसूत्र ने विभिन्न उपायों का उल्लेख किया है। अपनी योग्यता के अनुसार साध क कोई भी योगमार्ग चुन सकता है और लक्ष्य प्राप्त कर सकता है । सबसे प्रमुख मार्ग है-

1-अभ्यास और वैराग्य (प्रथम उपाय)

उत्तम कोटि के योगसाधकों के लिए मुख्य उपाय है- अभ्यास और वैराग्य । अकेले अभ्यास से और अकेले वैराग्य से चित्त की वृत्तियों का निरोध सम्भव नहीं हैं अपितु दोनों के सम्मिलित आचरण से ही वृत्तिनिरोध होता है-

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः। योगसूत्र -1/12

चित्त एक नदी के समान है जो पाप और पुण्य दोनों ही दिशाओं में बहती है। इसकी दो धारायें हैं- एक धारा से इसमें विषयों का आगमन होता है। दूसरी धारा से इसमें विवेक आता है किन्तु विषयों की धारा के वेग के कारण विवेक की धारा प्रायः बन्द रहती है। वैराग्य के द्वारा विषय का स्रोत बन्द कर दिया जाता है और अभ्यास के द्वारा विवेक का स्रोत खोल दिया जाता है। इस प्रकार दोनों के अनुष्ठान से वृत्तिनिरोध पूर्ण होता है।

क) **अभ्यास :**

अभ्यास क्या है? स्थिति में प्रयत्न का नाम अभ्यास है-

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः। योगसूत्र- 1/13

स्थिति का अर्थ है- वृत्तिहीन चित्त की एकाग्रता और यत्न का अर्थ है- उस एकाग्रता के लिये मानसिक उत्साह तथा दृढतापूर्वक यमनियमादि योगांगों का अनुष्ठान । इस प्रकार वृत्तिहीन चित्त की एकाग्रता रूप जो प्रशान्तवाहिता स्थिति है, उसके लिए मानसिक उत्साह और दृढ वीरता के साथ यमनियमादि का अनुष्ठान करना अभ्यास कहलाता है। योगांगों के अनुष्ठान के लिये श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा -इन पाँच मानसिक भावों का अनुष्ठान किया जाता है।

यदि कहो कि चित्तवृत्तियाँ अनादिकाल से चली आ रही अपनी चंचलता का त्याग करके किस प्रकार निरुद्ध हो सकती हैं? तो इसका समाधान यह है कि अभ्यास में एक अद्‌भुत शक्ति है, वह दुःसाध्य को भी सुसाध्य बना देती है। विष एक मारक द्रव्य है किन्तु कुछ लोग, उसका भी थोड़ा-थोड़ा अंश खाते रहने से उसके अभ्यस्त हो जाते हैं। इसी प्रकार नित्य निरन्तर विवेक का अभ्यास करके चित्त भी अपनी वृत्तियों का त्याग करके एक दिन स्थिरता को प्राप्त कर लेता है। चंचलता चित्त का आगन्तुक धर्म है, नैसर्गिक नहीं । स्थिरता उसका नैसर्गिक धर्म है। नैसर्गिक धर्म आगन्तुक से बलवान् हुआ करता है। अतः अभ्यास से वृत्तियों का निरोध दुष्कर नहीं है।

अभ्यास से चित्त की वृत्तियों का निरोध तभी सम्भव है जब अभ्यास दृढभूमि हो । दुर्बल अभ्यास से चित्त को स्थिर नहीं किया जा सकता। अभ्यास की दृढता के लिये तीन बातें आवश्यक हैं- दीर्घकाल, नैरन्तर्य और सत्कार।

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः।

योगसूत्र- 1/14

दीर्घकाल का अर्थ है कि बहुत काल पर्यन्त अभ्यास किया जाये। दो चार दिन अथवा दो चार वर्ष के अभ्यास से वाञ्छित सफलता नहीं मिलती। कभी अनेक जन्म भी लग जाते हैं। दीर्घकाल तक अभ्यास करने का सामर्थ्य चित्त में होना चाहिये।

अभ्यास में नैरन्तर्य भी होना चाहिये। तैलधारावत् अविच्छिन्नरूप से किया गया अभ्यास ही फलवान् होता है। विषय वासनाओं के झंझावात से अभ्यास में जब व्यवधान आ जाता है, तब अभ्यास दृढभूमि नहीं हो पाता।

अभ्यास की दृढता के लिये उसका सत्कारपूर्वक आसेवन भी आवश्यक है। सत्कार का अर्थ है- तप, ब्रह्मचर्य, विद्या और श्रद्धा के साथ अभ्यास का सम्पादन। शीतोष्णादि का सहन करना तप है। इन्द्रियों का निग्रह ब्रह्मचर्य कहलाता है। ओंकार आदि भगवान् के नामों का जप विद्या है तथा गुरुवाक्य तथा शास्त्रों पर विश्वास श्रद्धा कहलाता है।

इस प्रकार दीर्घकालपर्यन्त, व्यवधानरहित रूप से तप,ब्रह्मचर्य, विद्या और श्रद्धा रूप सत्कार के साथ जब अभ्यास किया जाता है, तब वह अभ्यास दृढता को प्राप्त होकर वृत्तिनिरोध का उपाय बनता है।

ख) वैराग्य :

लौकिक और वैदिक दोनों प्रकार के विषयों में चित्त का तृष्णारहित हो जाना वैराग्य कहलाता है-

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्। योगसूत्र 1/15

स्रक्, चन्दन, वनिता, अन्नपानादि लौकिक विषय हैं तथा वेदबोधित पारलौकिक स्वर्गादि के अमृतपान, अप्सरासम्भोग आदि विषय वैदिक हैं। इन दोनों प्रकार के विषयों में मुमुक्षु के चित्त का तृष्णारहित हो जाना ही वैराग्य है। इस वैराग्य को वशीकार वैराग्य भी कहते हैं।

वस्तुतः गुणदोष का विचार करने पर ऐहिक तथा पारलौकिक विषय नीरस, नश्वर तथा दुःखरूप प्रतीत होने लगते हैं। उन विषयों के प्रति चित्त की जो उपेक्षारूप हेयोपादेयशून्य स्थिति है, वह वशीकार कहलाती है और वही वैराग्य है। इस प्रकार वैराग्य चित्त की ही एक अवस्था है।

अपर वैराग्य :

उक्त वैराग्य दो प्रकार का है- अपरवैराग्य तथा परवैराग्य। उपर्युक्त वैराग्य अपरवैराग्य है। इसके चार भेद हैं- यतमान, व्यतिरेक, एकेन्द्रिय तथा वशीकार । चित्त के राग-द्वेषादि मलों की निवृत्ति के लिये मैत्र्यादि भावनाओं का अनुष्ठानरूप यत्न करना यतमान नामक वैराग्य है। इनसे कुछ मल तो नष्ट glst k:sg8v lS d bJ **शेष** रह जाते हैं। अवशिष्ट मलों को दूर करने का निश्चय करना व्यतिरेक वैराग्य है। जब चित्तमल तो निवृत हो जायें किन्तु कभी-कभी वे सूक्ष्मरूप से मन को प्रवृत्त कराने के लिये मनरूप एकेन्द्रिय में स्थित हो जाते हैं। उस मन रूप एकेन्द्रिय में स्थित सूक्ष्ममल को निवृत्त करने का प्रयास एकोन्द्रिय वैराग्य है। जब मन सहित सभी इन्द्रियाँ वश में हो जायें तो यह वशीकार वैराग्य है।

पर वैराग्य :

तत्परं पुरुषख्याते र्गुणवैतृष्ण्यम्। योगसूत्र- 1/16

प्रकृति तथा पुरुषविषयक भेदज्ञान के उदय होने से जो सत्त्वगुण के कार्यरूप विवेक ज्ञान में भी तृष्णा का अभाव है, वह परवैराग्य कहा जाता है।

भाव यह है कि अपरवैराग्य सम्प्रज्ञातसमाधि का हेतु है और परवैराग्य असत्प्रज्ञातसमाधि का हेतु है। सम्प्रज्ञातसमाधि अपरवैराग्य का साक्षात् फल है और परवैराग्य उसका परम्परया फल है। अर्थात् सम्प्रज्ञातसमाधि के माध्यम से अपरवैराग्य परवैराग्य को उत्पन्न करता है। सम्प्रज्ञातसमाधि के भी दो फल हैं- एक परवैराग्य और दूसरा असम्प्रज्ञातसमाधि। सम्प्रज्ञातसमाधि के द्वारा प्रकृति पुरुष का भेदज्ञान होता है। कैवल्य का हेतु यही भेदज्ञान है। परवैराग्य उसमें भी वितृष्णा उत्पन्न, करता है। इस प्रकार प्रकृति पुरुष के भेदज्ञान में जो वितृष्णा है, वही परवैराग्य है।

इस प्रकार अभ्यास और वैराग्य उत्तम कोटि के योगसाधकों के लिये चित्तवृत्तिनिरोध का सर्वोत्कृष्ट उपाय है। उनमें भी जिस साधक के मन में तीव्रसंवेग होगा, उतना ही वृत्तिनिरोध शीघ्र होगा।

तीव्रसंवेगानामासन्नः। योगसूत्र - 1/21

2- ईश्वरप्रणिधान : (द्वितीय उपाय)

ईश्वरप्रणिधान से भी शीघ्र ही चित्त की वृत्तियों का निरोध होता है। ईश्वरप्रणिधान एक प्रकार की भक्ति है। समस्त शुभाशुभ कर्मों को परमेश्वर के लिये अर्पित कर देना ही ईश्वरप्रणिधान है। उस प्रणिधानरूप भक्ति से प्रसन्न होकर भगवान् अन्य व्यापार किये बिना केवल संकल्पमात्र से भक्त पर अनुग्रह कर देते हैं। इस प्रकार के अनुग्रह से भी योगी को अत्यन्त शीघ्र समाधिलाभ होता है-

ईश्वरप्रणिधानाद् वा। योगसूत्र - 1/22

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्। योगसूत्र - 1/23

ईश्वर का स्वरूप क्या है और उसका क्या प्रकार है इसका विवेचन आगे किया जायेगा।

3- भावनाचतुष्टय (तृतीय उपाय)

मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा - इन चार प्रकार की भावनाओं से भी चित्त शुद्ध होता है और वृत्तिनिरोध में समर्थ होता है-

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्। योगसूत्र-1/33

सुखसम्पन्न पुरुषों में मित्रता की भावना कनी चाहिये, दुःखी जनों पर दया की भावना करे। पुण्यात्मा पुरुषों में प्रसन्नता की भावना करे तथा पाप कर्म करने के स्वभाव वाले पुरुषों में उदासीनता का भाव रखे। इन भावनाओं से चित्त शुद्ध होता है। शुद्ध चित्त शीघ्र ही एकाग्रता को प्राप्त होता है।

4- प्राणायाम : (चतुर्थ उपाय)

प्राणवायु के रेचन और विधारण से भी चित्त स्थिर होता है-

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य । योगसूत्र- 1/34

उदरस्थ वायु को नासिकापुट से बाहर निकालना प्रच्छर्दन अथवा रेचन कहलाता है तथा बाहर की वायु को भीतर ही रोके रहना विधारण कहलाता है।

इसी का नाम रेचक और कुम्भक प्राणायाम है। इस प्रकार के प्राणायाम से भी चित्त स्थिर होता है और समाधि की प्राप्ति होती है।

5- विषयवती प्रवृत्ति (पंचम उपाय)

गन्धादि विषयों का साक्षात्कार करने वाली चित्त की वृत्ति भी चित्त की स्थिरता का हेतु है-

विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनी।

योगसूत्र- 1/35

पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश- ये पाँच महाभूत हैं। गन्ध , रस, रूप, स्पर्श और शब्द ये पाँच इनके विषय हैं। दिव्य और अदिव्य भेद से ये विषय दस प्रकार के हो जाते हैं। इनमें से पाँच दिव्य विषयों का योगशास्त्रप्रतिपादित उपाय द्वारा जो योगियों को साक्षात्कार होता है, वह विषयवती प्रवृत्ति कहलाती है। यह विषयवती प्रवृति भी चित्त को स्थिर करने में महान् सहायक है।

6- ज्योतिष्मती प्रवृति (षष्ठ उपाय)

ज्योतिष्मती प्रवृति भी वृत्तियों का निरोध करके चित्त को स्थिर करती है-

विशोका वा ज्योतिष्मती। योगसूत्र- 1/36

चित्तविषयक साक्षात्कार तथा अहंकारविषयक साक्षात्कार विशोका ज्योतिष्मती कहे जाते हैं। हृदयकमल में सयंम करने से जो चित्त का साक्षात्कार होता है, वह चित्तविषयक ज्योतिष्मती प्रवृत्ति कहलाती है। चूंकि चित्तसत्त्व आकाश के समान निर्मल और भास्वर होता है, इसलिये उसमें की गयी प्रवृत्ति ज्योतिष्मती कही गयी है। इसी प्रकार अस्मिता नामक अंहकार में धारणा करने से जो अहंकार का साक्षात्कार होता है, वह अहंकार विषयक ज्योतिष्मती प्रवृत्ति कहलाती है। इन दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों के द्वारा योगी का चित्त शीघ्र ही स्थिरता को प्राप्त करता है!

7- वीतरागविषयक चित्त (सप्तम उपाय)

वीतराग पुरुषों के चित्त में धारणा, ध्यान, समाधि रूप संयम करने से चित्त की वृत्तियों का निरोध होता है-

वीतरागविषयं वा चित्तम्। योगसूत्र- 1/37

भाव यह है कि जैसे पूर्वोक्त गन्धादि विषयों में सयंम करने से चित्त स्थिरता को प्राप्त करता है वैसे ही सनकादि, दत्तात्रेय, व्यास, शुकदेव आदि योगियों के चित्त को आलम्बन बनाकर संयम करने से भी चित्त शीघ्र ही स्थिरता को प्राप्त करता है।

8- स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बन (अष्टम उपाय)

स्वप्न के ज्ञान का आलम्बन तथा निद्राविषयक ज्ञान को आलम्बन बनाकर संयम करने से भी चित्त की वृत्तियों का निरोध सम्भव है। कभी-कभी स्वप्न में भगवान् की प्रतिमा के दर्शन हो जाते हैं। वह प्रतिमा ऐसी प्रतीत होती है जैसे चन्द्रमण्डल से निकल कर आ रही हो , उसके अंग मृणाल के समान कोमल और निर्मल होते हैं। चन्द्रकान्त मणि के समान धवल प्रतीत होती है तथा मालती पुष्पों की माला से सुशोभित होती है। ऐसी सुन्दर प्रतिमा को देखकर स्वप्न से जागने पर भी उसी का स्मरण होता रहता है। उस भगवत्प्रतिमा में ध्यान लगाने से चित्त शीघ्रता से स्थिर हो जाता है। इसी प्रकार प्रगाढ निद्रा में सोये हुए व्यक्ति को निद्रा से जागने पर 'सुखमहमस्वाप्सम्'- मैं सुख से सोया, ऐसी अनुभूति होती है। उस निद्रासुख में ध्यान लगाने से भी चित्त का सद्यः स्थैर्य होता है।

स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा । योगसूत्र - 1/38

9- यथाभिमत ध्यान (नवम उपाय)

जिस साधक को जो स्वरूप अभीष्ट हो , उसमें ध्यान करने से चित्त अतिशीघ्र स्थिरता को प्राप्त करता है। अनभिमत विषय में चित्त कठिनता से स्थिर होता है। इसलिये शिव, शक्ति, गणपति, विष्णु तथा सूर्यादि देवताओं में से किसी एक में यदि विशेष रुचि हो तो उसी का ध्यान करना चाहिये। उसमें स्थिर हुआ चित्त निर्गुण निराकार परमेश्वर में भी स्थिरता को प्राप्त कर लेता है।

यथाभिमतध्यानाद्वा। योगसूत्र - 1/39

इस प्रकार महर्षि पंतजलि ने चित्तवृत्तिनिरोध के ये नौ उपाय बताये हैं। अपनी योग्यता के अनुसार साधक इनमें से किसी एक उपाय का भी अवलम्बन लेकर वृत्तियों का निरोध कर सकता है।

****

द्वितीय अध्याय

योगदर्शन में ईश्वर की अवधारणा

भारतीय दर्शनों में न्याय वैशेषिक योग और वेदान्त ये चार सम्प्रदाय स्पष्ट रूप से ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करतें हैं तथा उसकी सिद्धि में उन्होंने प्रबल तर्क दिये हैं। मुख्य रूप से तीन कारणों से ईश्वर की सत्ता को आवश्यक माना गया है। प्रथम कारण यह है कि जगत् की रचना ईश्वर के अतिरिक्त कोई अन्य मनुष्य देव सिद्धादि नहीं कर सकते। सृष्टिकर्ता ईश्वर ही हो सकता है। दूसरा कारण – कर्मफलप्रदातृत्व । असंख्य जीवों के कर्मों का फल देना ईश्वर के अतिरिक्त किसी अन्य के वश की बात नहीं है। तीसरा कारण है कि ईश्वर ने वेदों की रचना की है। सर्वज्ञकल्प वेदों की रचना सर्वज्ञ ईश्वर के अतिरिक्त कोई नहीं कर सकता। इस प्रकार जगत्कर्ता, कर्मफलदाता तथा वेदों के रचयिता के रूप में ईश्वर को स्वीकार करना पड़ता है, ऐसी ईश्वरवादियों की मान्यता है।

ईश्वर की आवश्यकता – योगदर्शन में ईश्वर का स्वरूप न्याय वैशेषिक और वेदान्त के अनुसार ही स्वीकार किया गया है किन्तु उसकी मान्यता का आधार न्याय-वैशेषिक से कुछ भिन्न है।योगद्दर्शन में ईश्वर के जगत्कर्तृत्व तथा कर्मफलप्रदातृत्व पर विशेष बल नहीं दिया गया है। यद्यपि योगदर्शन भी ईश्वर को जगत् का कर्ता कर्मफलप्रदाता तथा वेदों का रचयिता स्वीकार करता है किन्तु इनसे भी अधिक ईश्वर की उपयोगिता योगदर्शन में समाधि की सिद्धि के लिये स्वीकार की गयी है। 'ईश्वरप्रणिधानाद् वा ' –1/23 । इस सूत्र के द्वारा पतञ्जलि यह कह रहे हैं कि ईश्वर की विशेष भक्ति से समाधि की सिद्धि शीघ्र होती है। भक्ति से प्रसन्न होकर भगवान् योगसाधक के मार्ग में आने वाले समस्त योगान्तरायों का निवारण कर देते हैं जिससे वह शीघ्र ही सम्प्रज्ञातरूप समाधि को प्राप्त कर लेता है। योगदर्शन में ईश्वर का स्वरूप कैसा स्वीकार किया गया है, इस विषय पर यहाँ विस्तार से चर्चा करना प्रासंगिक है।

ईश्वर का स्वरूप –महर्षि पतञ्जलि ने निम्न सूत्र में ईश्वर का स्वरूप इस प्रकार कहा है–

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः। –1/24

अर्थात् क्लेश, कर्म, कर्मविपाक तथा कर्माशय इन चारों से सर्वथा असम्बद्ध जो पुरुषविशेष है वह ईश्वर कहलाता है।

अविद्या अस्मिता राग द्वेष और अभिनिवेश ये पाँच क्लेश हैं। रागद्वेषादि से उत्पन्न शुभाशुभ कर्मजन्य होने से पाप पुण्य कर्म कहे जाते हैं। पुण्य और पाप से जन्य जाति आयु भोगरूप जो सुखदुःख हैं वे विपाक कहलाते हैं, तथा सुख और दुःख से उत्पन्न वासना आशय कही जाती है। इन सभी से रहित जीवादि से भिन्न चेतन तत्त्व ईश्वर है।

अन्य जीवात्माएँ क्लेशादि से परामृष्ट होने के कारण साधारण पुरुष हैं। यद्यपि पूर्वोक्त क्लेशादि चित्त में रहते हैं, पुरुष से इनका कोई सम्बन्ध नहीं है फिर भी अविवेक से बुद्धि को अपना स्वरूप मान लेने से बुद्धिगत सुखदुःख का भेक्ता वह पुरुष ही माना जाता है । यह मान्यता वैसी ही है जैसे युद्ध में जय और पराजय सैनिकों की होती है किन्तु राजा में जय और पराजय का व्यवहार होता है । वह ईश्वर इस प्रकार के काल्पनिक सुख दुःख के भोग से असम्बद्ध है। इसलिए वह पुरुषविशेष कहलाता है।

यद्यपि विदेह और प्रकृतिलीन आदि अनेक केवली पुरुष भी क्लेश कर्मादि से रहित होते हैं फिर भी वे ईश्वर नहीं कहला सकते क्योंकि वे प्राकृतिक, वैकारिक और दाक्षणिक इन तीनों बन्धनों का छेदन करके कैवल्यभाव को प्राप्त हुए हैं। उनमें बन्धन की सम्भावना बनी रहती है किन्तु ईश्वर तो सदैव मुक्त है। इसलिए वह पुरुषविशेष है ।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि ऐसे ईश्वर के ऐश्वर्य में क्या प्रमाण है? इसके उत्तर में व्यासदेव कहते हैं कि उसकी ईश्वरता में शास्त्र प्रमाण है। अब यदि यह प्रश्न किया जाय कि उस शास्त्र की प्रमाणता में क्या प्रमाण है तो इसका उत्तर यह है कि ईश्वर का प्रकृष्टरूप चित्त ही शास्त्र की स्वतः प्रमाणता में प्रमाण है। ईश्वर के सर्वज्ञत्वादि प्रकृष्ट ऐश्वर्य से वेदों की रचना हुई है इसलिए वेदादि शास्त्र प्रमाणभूत हैं।

यहाँ पर शंका हो सकती है कि ऐसी स्थिति में तो अन्योन्याश्रय दोष चरितार्थ होता है । ईश्वर के ऐश्वर्य में शास्त्र प्रमाण है और शास्त्र की प्रमाणता में ईश्वर का ऐश्वर्य प्रमाण है। यह अन्योन्याश्रय दोष है? इसका उत्तर यह है कि –

एतयोः शास्त्रोत्कर्षयोरीश्वरसत्त्वे वर्तमानयोरनादिः सम्बन्धः।

अर्थात् उक्त शास्त्र और ईश्वर के ऐश्वर्य के उत्कर्ष में अनादि सम्बन्ध है। जैसे बीज और वृक्ष के कार्य-कारण भाव में अनादि सम्बन्ध है वैसे ही शास्त्र और ईश्वर के ऐश्वर्य में अनादि सम्बन्ध है। यहाँ अन्योन्याश्रय दोष नहीं माना जाता।

योगदर्शन सेश्वर सांख्य है

सांख्य दर्शन दो प्रकार का है- सेश्वर सांख्य और निरीश्वर सांख्य महर्षि पतञ्जलि का यह योगसूत्र सेश्वर सांख्य है और कपिलमुनिकृत सांख्य सूत्र निरीश्वर सांख्य कहा जाता है। सेश्वर सांख्य अर्थात् योगदर्शन छब्बीस तत्त्व स्वीकार करता है- प्रकृति, महतत्त्व, अहंकार, एकादश इन्द्रिय, पंचतन्मात्र, पंच महाभूत, पुरुष और ईश्वर। निरीश्वर सांख्य ईश्वर को स्वीकार नहीं करता। किन्तु वह ईश्वर का निषेध भी नहीं करता। वह केवल इतना कहता है कि सृष्टिप्रक्रिया में ईश्वर की उपयोगिता नहीं है । पुरुष भोक्ता है कर्त्ता नहीं, प्रकृति कर्त्री है भोक्त्री नहीं। ये दोनों मिलकर जगत् की रचना में समर्थ हैं। ईश्वर की आवश्यकता ही नहीं, अतः सांख्य सूत्र पच्चीस तत्त्वों को ही स्वीकार करता है। इस प्रकार पंतञ्जलि मुनि का योगसूत्र और कपिल मुनि का सांख्यसूत्र सांख्यशास्त्र के ही दो भाग हैं।

निरीश्वर सांख्यमतावलम्बी कहते हैं कि - **'स सर्वज्ञः सर्ववित्', 'स हि सर्ववित् सर्वकर्ता'** इत्यादि श्रुतियों में जिसे सर्वज्ञ और सर्वकर्ता कहकर ईश्वर की संज्ञा दी गयी है वह वस्तुतः मुक्त पुरुषों की प्रशंसा की गयी है अथवा सिद्ध योगियों की स्तुतिमात्र है। उक्त श्रुतियाँ केवल अर्थवाद हैं। उन्हें ईश्वर के सद्भाव में हेतु नहीं माना जा सकता।

जगत् की रचना में ईश्वर की भूमिका

विचार करने पर निरीश्वरवादियों की उक्त मान्यता अविचारितरमणीय प्रतीत होती है। निरीश्वरवादियों के अनुसार पुरुष की सन्निधि मात्र से प्रकृति ही संसार की रचना करने में समर्थ है। किन्तु प्रश्न यह है कि जड प्रकृति संसार की रचना में स्वतः कैसे प्रवृत्त हो सकती है? जैसे लोक में चेतन सारथि की प्रेरणा के बिना रथ की गति सम्भव नहीं वैसे चेतन ईश्वर की प्रेरणा के बिना जड प्रकृति भी जगत्-रचना में प्रवृत्त नहीं हो सकती। पुरुष चूँकि असंग और निष्क्रिय है अतः वह प्रकृति का प्रेरक नहीं हो सकता । अतः प्रकृति के प्रेरक के रूप में सृष्टि के प्रति निमित्तकारण ईश्वर को अवश्य ही स्वीकार करना

चाहिये। निमित्तकारण का प्रयोजक ज्ञान तथा प्रेरणारूप क्रिया ईश्वर में ही रह सकती है।

यद्यपि ईश्वर में ज्ञान और क्रिया का होना सम्भव नहीं है क्योंकि ज्ञान और प्रेरणारूप क्रिया रजोगुण और तमोगुण से रहित शुद्ध सत्त्वरूप चित्त का धर्म है। ईश्वर तो त्रैगुण्य से सर्वथा रहित है। चित्त और ईश्वर का स्वस्वामिभाव सम्बन्ध का होना भी असम्भव है, क्योंकि सम्बन्ध अविद्या से प्रयुक्त हुआ करता है। ईश्वर में अविद्या है नहीं। अत: प्रकृति को प्रेरित करने के लिये ईश्वर को स्वीकार करना असमीचीन प्रतीत होता है फिर भी ईश्वर के साथ जो चित्त का सम्बन्ध है वह अविद्यापूर्वक नहीं है। जीव का चित्त के साथ जो स्वस्वामिभाव सम्बन्ध है वह अविद्याप्रयुक्त है क्योंकि जीव चित्त के स्वभाव को जानता नहीं है, किन्तु ईश्वर चित्त के स्वभाव को जानकर ज्ञानधर्मोपदेश के द्वारा तापत्रयपीडित प्राणियों के उद्धार के लिये तथा प्रकृतिप्रेरणा के द्वारा जगत् की रचना के लिये विशुद्ध सत्त्वरूप चित्त को धारण करता है। इसलिये ईश्वर के साथ चित्त का सम्बन्ध अज्ञानपूर्वक होता तो परिणामित्व दोष आ सकता था, किन्तु ईश्वर का चित्त के साथ सम्बन्ध आहार्यज्ञानपूर्वक है। अत: ज्ञानपूर्वक चित्त को धारण करने से ईश्वर में ज्ञान तथा प्रेरणारूप क्रिया रह सकती है। इससे ईश्वर में भ्रान्तत्वरूप दोष भी नहीं आता। भ्रान्तत्व दोष वहाँ आता है जो अविद्या के स्वभाव को न जानकर अविद्या का सेवन करता है। जैसे एक नट ज्ञानपूर्वक रामकृष्णादि का स्वयं में आरोप करके अनेक प्रकार के अभिनय करता है फिर भी भ्रान्त नहीं कहलाता। इसी प्रकार ईश्वर भी भ्रान्त नहीं कहलाता अपितु तात्त्विक ज्ञानवान् कहलाता है।

अन्योन्याश्रय दोष की आशंका और उसका परिहार

अभी ऊपर हमने कहा कि ईश्वर तथा उसके साथ चित्त का सम्बन्ध अविद्यापूर्वक नहीं अपितु आहार्यज्ञानपूर्वक है। जीवों का उद्धार करने की इच्छा से ईश्वर चित्तरूप उपाधि को धारण करता है।

यहाँ पर आक्षेप हो सकता है कि जब जीवों का उद्धार करने की इच्छा होती है तो ईश्वर चित्तरूप उपाधि को धारण करता है, किन्तु जीवों का उद्धार करने की इच्छा तभी होगी जब चित्तरूप उपाधि को धारण करेगा। इस प्रकार चित्त होने पर इच्छा और इच्छा होने पर चित्त का धारण , यह तो अन्योन्याश्रय दोष हुआ?

किन्तु ईश्वर में उक्त अन्योन्याश्रय दोष की आशंका का परिहार भी

बीजांकुर के दृष्टान्त से हो जाता है। सृष्टिप्रवाह अनादि है। आदिमान् पदार्थो में ही उक्त दोष की सम्भावना है। जैसे बीज से अंकुर और अंकुर से बीज , यह प्रवाह अनादि है। इसमें अन्योन्याश्रय दोष नहीं माना जाता । वैसे ही जगत् की उत्पत्ति और प्रलय में अन्योन्याश्रय दोष नहीं है। जैसे लोक में कोई पुरुष ऐसी इच्छा करके रात में शयन करता है कि मैं प्रातःकाल में इतने समय पर उठकर अमुक कार्य करूँगा। वह प्रातःकाल में उठता है और कार्य करता है इसी प्रकार सृष्टि के समाप्ति काल में जब ईश्वर की संहार करने की इच्छा होती है तब वह यह संकल्प करता है कि "जब प्रलय की अवधि समाप्त होगी तब मैं पुनः विशुद्ध चित्त को धारण करूँगा। " ऐसा संकल्प करके वह निज स्वरूप में अवस्थित हो जाता है, और तब उसका विशुद्ध चित्त प्रकृति में लीन हो जाता है। जब प्रलय की अवधि समाप्त होती है तब पूर्वोक्त संस्कार से वह पुनः विशुद्ध चित्त को धारण करता है। जैसे पूर्व का बीज उत्तर उत्तर के अंकुर का कारण और पूर्व पूर्व का अंकुर उत्तर उत्तर के बीज का कारण होने पर भी व्यक्तिरूप से कार्यकारणभाव न होने से, अन्योन्याश्रय दोष नहीं होता वैसे ही पूर्व पूर्व की ईश्वरेच्छा और उत्तर उत्तर के विशुद्ध चित्त का धारण करने में व्यक्तिरूप कार्यकारणभाव न होने से अन्योन्याश्रय दोष नहीं है।

महाप्रलय में शंका का परिहार

कुछ निरीश्वरवादी सांख्याचार्य महाप्रलय को स्वीकार नहीं करते। उनका कहना है कि संसार का महाप्रलय कभी नहीं होता। महाप्रलय को स्वीकार करने पर महाप्रलय के पश्चात् पुनः सृष्टि करने के लिये ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार करना पड़ेगा।

किन्तु ऐसा कहना समीचीन नहीं। चेतन तत्त्व के अतिरिक्त प्रत्येक पदार्थ परिणामी है। परिणाम दो प्रकार का है- सदृश परिणाम और विसदृश परिणाम। दुग्ध तथा इक्षु जब तक दधि तथा गुडरूप से परिणत नहीं हो होते तब तक उनमें सदृश परिणाम होता है। दधि तथा गुडरूप उनका विसदृश परिणाम है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि जिसका सदृश परिणाम होता है उसका विसदृश परिणाम भी होता है। प्रकृति का विसदृश परिणाम महत् आदि हैं। उसका सदृश परिणाम भी अवश्य होना चाहिये। प्रकृति का जो सदृश परिणाम है वही महाप्रलय है। इस प्रकार उपर्युक्त तर्क से महाप्रलय की सिद्धि हुई। महाप्रलय सिद्ध हो जाने पर पुनः सृष्टि करने के लिये ईश्वर को स्वीकार करना आवश्यक है। वह ईश्वर क्लेश कर्म विपाक और आशय से रहित है तथा साम्य

और अतिशय से रहित है, अनादि नित्य पुरुषविशेष है। उसके प्रणिधान से शीघ्र समाधि लाभ होता है। यह सिद्ध हुआ।

ईश्वर का ज्ञान अतिशयरहित है

अन्य प्राणियों का ज्ञान सातिशय है किन्तु ईश्वर का ज्ञान निरतिशय है। अर्थात् ईश्वर में ज्ञान अन्तिम उन्नति के रूप में विद्यमान रहता है। प्राणियों में किसी का ज्ञान वर्तमान पदार्थविषय है, किसी का भूत और भविष्यद् विषयक है, किसी का ज्ञान त्रैकालिक है, किसी का एकविषयक है और किसी का ज्ञान अनेकविषयक है, किसी का ज्ञान सूक्ष्मविषयक है, किसी का न्यून और अधिकविषय है। यह ज्ञान वृद्धि को प्राप्त होता हुआ जहाँ निरतिशयरूप अन्तिम सीमा को प्राप्त होता है वही सर्वज्ञ ईश्वर कहलाता है।

भाव यह है कि जो पदार्थ न्यूनाधिक्य धर्म वाला होने से सातिशय होता है वह कहीं न कहीं सीमा को प्राप्त होता हुआ निरतिशय हो जाता है। जैसे सर्षप, चणक, आमलक, बिल्व, कटहल आदि में पूर्व पूर्व की उपेक्षा उत्तर उत्तर में महत्परिमाण है और उत्तर उत्तर की अपेक्षा पूर्व पूर्व में अणु परिमाण है। ये दोनों परिमाण एक की अपेक्षा दूसरे में अधिक होने से सातिशय हैं। अतः महत्परिमाण की अन्तिम सीमा आकाश में है और अणु परिमाण की अन्तिम सीमा परमाणु में है क्योंकि आकाश से बड़ा और परमाणु से छोटा कोई पदार्थ नहीं होता। अतः महत्परिमाण आकाश में निरतिशयता को प्राप्त होता है और अणुपरिमाण परमाणु में निरतिशयता को प्राप्त करता है। उसी प्रकार कीट-पतंग, पशु-पक्षी, देव-दानव, मनुष्य-मुनि तथा योगी आदि में जो ज्ञान विद्यमान है वह भी एक की अपेक्षा दूसरे में अधिक होने से सातिशय है। उस ज्ञान की अतिशयता कहीं न कहीं अवश्य होनी चाहिये। उस ज्ञान की अतिशयता की जो अन्तिम सीमा है वही ज्ञान निरतिशय है। जहाँ उस ज्ञान की निरनिशयता सदा विद्यमान रहती है उसी का नाम ईश्वर है।

ईश्वर के नाम, अंग तथा अव्यय

ईश्वर का कोई नाम या रूप नहीं होता, फिर भी उपासना की सुविधा के लिये उसके नाम और रूपों की कल्पना करनी पड़ती है। परमेश्वर के जितने भी नाम ब्रह्मा, विष्णु, शिव, कृष्ण, वासुदेव, शंकर आदि हैं वस्तुतः वे नाम नहीं हैं अपितु विशेषण हैं। उपासकों ने अपनी रुचि, श्रद्धा और सुविधा की दृष्टि से उन-उन नामों तथा रूपों की कल्पना कर ली है। वस्तुतः ईश्वर अनाम और अरूप है फिर भी कल्पित नाम और रूप के अतिरिक्त उसकी प्राप्ति का कोई अन्य उपाय भी उपासक के पास नहीं है। अतः नाम और रूप की

कल्पना करना साधक की विवशता है। ईश्वर की उपलब्धि के पश्चात् तो नाम और रूप स्वतः ही दूर छूट जाते हैं। समाधि की सिद्धि होने पर इनकी कोई उपयोगिता नहीं रह जाती है। किन्तु जब तक समाधिलाभ नहीं होता तब तक आगमों ने ईश्वर के विभिन्न नाम और रूपों की कल्पना का निर्देश दिया है। यही बात भाष्यकार व्यासदेव कह रहें हैं कि ईश्वर की संज्ञाओं का ज्ञान आगम से करना चाहिये।

तस्य संज्ञादिविशेषप्रतिपत्तिरागमतः बोध्या।

व्यासभाष्य 1/25

वायुपुराण में ईश्वर के विभिन्न नामों के अनुरूप उसके छः अंग और दस अव्ययों का निर्देश किया गया है। यथा-

सर्वज्ञता तृप्तिरनादिबोधः
स्वतन्त्रता नित्यमलुप्तशक्तिः।
अनन्यशक्तिच विभोर्विधिज्ञाः
षडाहुरङ्गानि महेश्वरस्य॥

वायुपुराण 12/31

अर्थात् विद्वान् सुधीजनों ने ईश्वर के छः अंग बताये है-सर्वज्ञता, तृप्ति, अनादिज्ञान, स्वतन्त्रता, अलुप्त चेतनता, तथा अनन्य शक्ति इन्हीं छः अंगो से ईश्वर अंगी अर्थात् परिपूर्ण होता है।

इनके अतिरिक्त दस अव्यय अर्थात् अविनाशी गुण भी ईश्वर में रहते हैं। ये अव्यय हैं- ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, तप, सत्य, क्षमा, धृति, स्रष्टृत्व, आत्मसम्बोध तथा अधिष्ठातृत्व। यथा-

ज्ञानं वैराग्यमैश्वर्यं तपः सत्यं क्षमा धृतिः।
स्त्रष्टृत्वमात्मसम्बोधो ह्यधिष्ठातृत्वमेव च।
अव्ययानि दशैतानि नित्यं तिष्ठन्ति शंकरे॥

-वायुपुराण 10/60

संसार की रचना भूतानुग्रह के लिये- शंका

निरीश्वरवादी सांख्याचार्य आक्षेप करते हैं कि यदि ईश्वर पूर्णकाम नित्यतृप्त तथा वैराग्य के अतिशय से युक्त है तो उसकी संसाररचना में प्रवृत्ति क्यों होती है। प्रवृत्ति तो स्वार्थवश ही हुआ करती है। नित्यतृप्त ईश्वर को स्वार्थी नहीं कहा जा सकता। यदि कहो कि ईश्वर का कोई स्वार्थ न होने पर भी भूतानुग्रह के लिये ही वह संसाररचना में प्रवृत्त होता है तो यह नहीं कहा जा सकता क्योंकि सृष्टि के आदि में कोई प्राणी था ही नहीं तो किस पर अनुग्रह

करने के लिये उसने संसार को बनाया? चलो मान लेते हैं कि भूतानुग्रह के लिए ही उसने संसार बनाया तो यह बताइये कि उसने किसी को सुखी, किसी को दुःखी, किसी को धनवान् और किसी को निर्धन क्यों बनाया? इससे तो वह पक्षपाती और दयाहीन सिद्ध होता है? कृपालु ईश्वर की प्रवृत्ति तो सुख के लिये ही होनी चाहिये, दुःख के लिये नहीं?

समाधान

उपर्युक्त आक्षेप का उत्तर भाष्यकार देते हैं कि-

तस्यात्मानुग्रहाभावेऽपि भूतानुग्रहः प्रयोजनम्।

-व्यासभाष्य 1/25

अर्थात् ईश्वर का कोई स्वार्थ न होने पर भी प्राणियों पर कृपा करने की इच्छा ही उसे जगत् की रचना में प्रवृत्त करती है। यह कहना कि सृष्टि के आदि मे प्राणी नहीं थे, सर्वथा मिथ्या है। स्मृति कहती है-

'न जायते म्रियते वा विपश्चित्'
'नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥'

- गीता 2/20

अर्थात् यह आत्मा न कभी जन्म लेता है न मरता है। यह नित्य, शाश्वत और पुराण है। देह के मरने पर यह नहीं मरता।

तथा-

"नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्"

इत्यादि श्रुति स्मृतियों से आत्मा की नित्यता सिद्ध होती है। इस सृष्टि के आदि में भी आत्मा की सत्ता सिद्ध हो जाने पर उन पर कृपा करने के लिये ईश्वर का जगद्रचना में प्रवृत्त होना उचित ही है। सृष्टिप्रवाह चूँकि अनादि है अतः पूर्वसर्ग में किये हुए कर्मो का फल देने के लिए तथा ज्ञानधर्मोपदेश द्वारा संसारसागर से जीवों का उद्धार करने के लिये करुणापूर्ण परमेश्वर नित्यतृप्त होते हुए भी संसाररचना में प्रवृत्त होता है।

ईश्वर में पक्षपात और निर्दयता की भी सम्भावना नहीं है। जीवों के कर्मानुसार उनका फल देना ईश्वर का अनुग्रह ही तो है। केवल सुख देना ही अनुग्रह नहीं होता। जैसे राजा अपने कर्मचारियों को उनके कर्म के अनुसार न्यूनाधिक वेतन देने से और अपराधियों को दण्ड देने से पक्षपाती या निर्दय नहीं कहलाता। उसी प्रकार ईश्वर भी यदि कर्मानुसार जीवों को सुख और दुःखरूप

फल प्रदान करता है तो इससे वह पक्षपाती और निर्दय नहीं हो जाता। इसी बात को भाष्यकार कह रहे है-

ज्ञानधर्मोपदेशेन कल्पप्रलयमहाप्रलयेषु
संसारिणः पुरुषानुद्धरिष्यामीति ॥

व्यासभाष्य 1/25

यदि कहो कि सबसे प्रथम सर्ग में तो जीवों ने कर्म किये ही नहीं थे तो कर्मो के अभाव में कर्मानुसार फल देने के लिये ईश्वर की प्रवृत्ति कैसे सम्भव है? तो इसका फिर वही उत्तर है कि सृष्टिप्रवाह अनादि है। इसमें पूर्वसर्ग कोई नहीं होता। अपितु पूर्वसर्ग की अपेक्षा सभी उत्तर सर्ग ही है। अपना स्वार्थ न होते हुए भी करुणावश ईश्वर संसारचना में प्रवृत्त होता है। अतः जगद्रचना निष्प्रयोजन नहीं है। इसी बात को पंचशिख कह रहे हैं-

आदिविद्वान् निर्माणचित्तमधिष्ठाय
कारुण्याद् भगवान् परमर्षिरासुरये
जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाच ।

व्यासभाष्य 1/25

अर्थात् आदि विद्वान् परमर्षि भगवान् कपिल ने योगबल से निर्मित विशुद्ध चित्त का आश्रय लेकर जिज्ञासु आसुरि नामक शिष्य को सांख्यशास्त्र का उपदेश किया।

ईश्वर काल से अनवच्छिन्न

ब्रह्मा अंगिरा आदि ऋषियों अथवा देवों को ईश्वर नहीं समझना चाहिये क्योंकि वे ब्रह्मादि देवता तथा अंगिरादि ऋषि, सृष्टि तथा प्रलय से उत्पत्तिनाश वाले हैं। परमेश्वर चूँकि सदा विद्यमान है इसलिये यह काल से परिच्छिन्न नहीं है। ब्रह्मादि देवों को तथा अंगिरादि ऋषियों को उत्पन्न करके ईश्वर उनको उपदेश देता है, उनके हृदय में ज्ञान का प्रकाश करता है अतः परश्मेवर उन सबका गुरु है।

स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्। योगसूत्र 1/26

प्रत्येक सर्ग के आदि में निरतिशय धर्म ज्ञान वैराग्य और ऐश्वर्य का आश्रय परमात्मा ही है ब्रह्मादि देवता नहीं। स्वयं श्वेताश्वतरोपनिषद् में कहा गया है कि परमेश्वर ने सर्ग के आदि में ब्रह्मा को उत्पन्न करके उनको वेदों का उपदेश किया-

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं
यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं
मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥

- श्वेताश्वतरोपनिषद्-6/18

अर्थात् जो परमात्मा सृष्टि के आदि में ब्रह्मा को उत्पन्न करता है तथा जो परमात्मा उस ब्रह्मा को वेदों का उपदेश करता है, उस आत्मबुद्धि के प्रकाशक देव की शरण को मैं मुमुक्षु प्राप्त होता हूँ।

ईश्वर का वाचक शब्द ओम् है

ईश्वरप्रणिधान से शीघ्र समाधिलाभ होता है, ऐसा सूत्रकार ने कहा था। वह ईश्वरप्रणिधान कैसे किया जाता है इस प्रश्न के समाधान के लिये सूत्रकार कहते हैं कि ईश्वर के नाम का जप करने से ईश्वर भक्तों पर अनुग्रह करता है। ईश्वर का मुख्य वाचक नाम ओम् है-

तस्य वाचकः प्रणवः। 1/27

ओंकार को प्रणव कहा जाता है। सूत्रकार ने ओंकार शब्द नहीं कहा अपितु प्रणव कहा है। प्रणव वस्तुतः ओंकार का विशेषण है। प्र उपसर्ग पूर्वक नु धातु से प्रणव शब्द बना है । नु धातु स्तुत्यर्थक है। प्रकर्षेण नूयते स्तूयतेऽनेनेति प्रणवः- चूँकि ओम् शब्द के द्वारा परमेश्वर की स्तुति की जाती है इसलिये ओम् को प्रणव कहा जाता है।

यूँ तो ओम् भी परमात्मा का नाम नहीं है अपितु उसका विशेषण ही है। **'अवति इति ओम्'**। चूँकि परमात्मा ही सबका रक्षक है इसलिये ओम् कहलाता है। फिर भी श्रुति, स्मृति, पुराणादि में परमेश्वर का मुख्य वाचक ओम् ही प्रसिद्ध है इसलिये ओंकार को ईश्वर का वाचक और ईश्वर को ओंकार का वाच्य कहा जाता है। जैसे लोक में श्रृंग पुच्छ और सास्ना आदि आकृति से युक्त पशुविशेष का वाचक गौः शब्द है उसी प्रकार सर्वज्ञत्व पूर्णकामत्व सत्यसंकल्प आदि धर्मो से विशिष्ट पुरुषविशेष का वाचक ओम् है। ईश्वर और ओंकार में वाच्यवाचकभाव अर्थात् प्रतिपाद्यप्रतिपादकभाव सम्बन्ध है।

जिज्ञासा

यहाँ पर प्रश्नकर्ता एक जिज्ञासा प्रस्तुत करता है कि ईश्वर में और ओंकार में जो वाच्यवाचकभावसम्बन्ध है वह संकेतजन्य है या संकेतद्योत्य है? इस सन्दर्भ में शास्त्रों में उक्त दो ही मत प्राप्त होते हैं। नैयायिक संकेतजन्यवादी
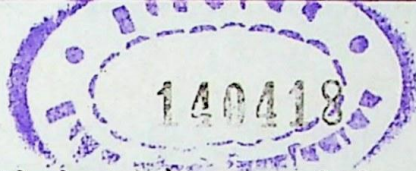
है और पूर्वमीमांसक संकेतद्योत्यवादी हैं। इस बात को थोड़ा विस्तार से समझना होगा।

संकेतजन्यवाद

नैयायिकों की मान्यता है कि अमुक पद से अमुक ही अर्थ का बोध हो, इस प्रकार की सृष्टि के आदि में जो ईश्वर की इच्छा है उसे संकेत कहा जाता है। जैसे घट पद से पृथुबुध्नोदराकार कम्बुग्रीवादि से युक्त पदार्थ का ही बोध हो, ऐसा सृष्टि के आदि में ईश्वर नें संकेत किया है, अतः घट पद से घटरूप अर्थ ही समझा जाता है अन्य अर्थ नहीं समझा जाता। इसलिये घट पद और घट अर्थ इन दोनों का जो वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध है वह ईश्वर के उक्त संकेत से ही जन्य है। अर्थात् ईश्वर के उक्त संकेत से ही वह सम्बन्ध उत्पन्न हुआ है। इसी का नाम है संकेतजन्यवाद।

संकेतद्योत्यवाद

पूर्वमीमांसक ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं करते, उनके अनुसार संसार की उत्पत्ति नहीं होती। वह अनादि है। संसार की केवल खण्ड प्रलय ही होती है महाप्रलय नहीं । इसलिये पद अर्थ और इन दोनों का वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध तीनों तत्त्व नित्य हैं। ये सदा विद्यमान रहते हैं। जैसे दीपक का प्रकाश पहले से ही स्थित रूपादि पदार्थ का केवल द्योतन करता है। उन पदार्थों को उत्पन्न नहीं करता, उसी प्रकार पद, पदार्थ तथा इन दोनों का जो वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध है वह पहले से ही स्थित है। आधुनिक पुरुष का संकेत उस सम्बन्ध को केवल द्योतित करता है, उत्पन्न नहीं करता। अतः पद और पदार्थ का वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध संकेतद्योत्य है संकेतजन्य नहीं।

भाष्यकार का मत

उपर्युक्त जिज्ञासा को उपस्थित करके भाष्यकार व्यासदेव योगदर्शन का मत प्रस्तुत करते हैं कि ईश्वर वाच्य का प्रणव वाचक के साथ जो वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध है वह पहले से ही विद्यमान है। ईश्वर का संकेत तो उस सम्बन्धरूप अर्थ को केवल अभिनय करके दिखाता है।

स्थितोऽस्य वाच्यस्य वाचकेन सह सम्बन्धः।
संकेतस्त्वीश्वरस्य स्थितमेवार्थमभिनयति॥

-व्यासभाष्य 1/27

भाव यह है कि जैसे अभिनेता पहले से स्थित नल दुष्यन्त आदि के चरित्र को अभिनय करके दिखाता है वैसे ही ईश्वर का संकेत भी ओम् और ईश्वर के वाच्यवाचकभावरूप सम्बन्ध का केवल द्योतन करता है। जैसे पिता

और पुत्र का सम्बन्ध पहले से ही स्थित है । संकेत से केवल यह द्योतित किया जाता है कि यह इसका पिता है और यह इसका पुत्र है। इसी प्रकार ओम् olpd gSv ls bश्वर उसका वाच्य है, यह वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध पहले से बना हुआ है । संकेत से केवल उसका अभिनय किया जाता है।

योगदर्शन के अनुसार शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य है। महाप्रलय के समय जब सकल जगत् प्रकृति में लीन रहता है तब ओम् और ईश्वर का जो वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध है वह भी प्रकृति में लीन हो जाता है। जब पुनः सृष्टि का आरम्भ होता है तो शब्द अर्थ और इन दोनों का सम्बन्ध भी पुनः आविर्भूत हो जाता है। ईश्वर उस सम्बन्ध को संकेत के द्वारा प्रदीपप्रकाश के समान द्योतित करता है।

इस प्रकार शब्दार्थसम्बन्ध संकेतद्योत्य है संकेतजन्य नहीं यह सिद्ध हुआ।

प्रणवजप और ईश्वरभावना ही ईश्वरप्रणिधान है

जब योगसाधक ओंकार तथा ईश्वर के वाच्यवाचकभावरूप सम्बन्ध को अच्छी प्रकार समझ ले तब उसे ओम् का जप तथा उसके अर्थ ईश्वर की भावना करनी चाहियें पतञ्जलि कहते हैं–

तज्जपस्तदर्थभावनम्।

–योगसूत्र 1228

अर्थात् योगसाधक को शीघ्र समाधिलाभ के लिये ओम् का जप तथा ईश्वर की भावना करनी चाहिये। यही ईश्वरप्रणिधान है। जप और भावना के निरन्तर आचरण से चित्त शीघ्र एकाग्र हो जाता है। यही बात भाष्यकार कह रहे हैं–

तदस्य योगिनः प्रणवं जपतः प्रणवार्थं
च भावयतश्चित्तमेकाग्रं संपद्यते।

व्यासभाष्य 1/28

प्रणवजप का अर्थ

वाणी से बार बार 'ओम्' शब्द का उच्चारण करना जप कहलाता है। उच्चारण करते समय मन का सम्बन्ध ओम् शब्द के साथ होना चाहिये, तभी वह उच्चारण जप कहलायेगा। मनःसम्बन्ध के बिना शुकवत् शब्द का पुनः पुनः उच्चारण जप नहीं कहलाता। शब्द का उच्चारण प्राणवायु के बिना सम्भव नहीं । अतः ओम् शब्द के उच्चारण के साथ प्राणवायु की गति पर भी ध्यान देना आवश्यक है।

यह जप तीन प्रकार का है- वाचिक, उपांशु तथा मानसिक। श्रवण करने योग्य शब्द का उच्चारण करना वाचिक जप कहलाता है। इसमें वागिन्द्रिय के समस्त अवयव क्रियाशील रहते हैं। दूसरा व्यक्ति भले ही उस शब्द को न सुन सके। किन्तु उच्चारणकर्ता के अपने कान उस शब्द को अवश्य सुनें। बार-बार ओम्-ओम् का उच्चारण करने से चित्त एकाग्र होता है। यह वाचिक जप है।

उच्चारण करते हुए जब केवल ओष्ठ हिलते है शब्द का श्रवण नहीं होता, तब यह जप उपांशु कहलाता है। उपांशु जप का अभ्यास वाचिक जप के पश्चात् ही करना चाहिये। इससे उपांशु जप की दृढता होती है। यह जप वाचिक जप से शतगुणित प्रभावशाली होता है।

जब ओष्ठ भी नहीं हिलते अपितु मन की क्रियाशीलता से अन्तःस्थित मध्यमा वाक् से मन्त्र का उच्चारण किया जाता है तब यह जप मानसिक कहलाता है। यह जप उपांशु जप से सहस्त्रगुणित प्रभावकारी है।

अर्थ की भावना

प्रणव का अर्थ है ईश्वर। वह सर्वज्ञ, सर्वकर्ता, नित्य, पवित्र, पूर्णकाम, सत्यसंकल्प और विभु है ईश्वर के उक्त स्वरूप का निरन्तर चिन्तन करना ही उसकी भावना करना है। निरन्तर स्मरण और चिन्तन करने से प्रसन्न हुए भगवान् अपने भक्त के योगक्षेम का दायित्व स्वयम् अपने ऊपर ले लेते हैं। जैसा कि स्वयम् उन्होंने गीता में कहा है-

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

-9-22

यद्यपि एक काल में जप और भावना करना सम्भव नहीं है तथापि भावना के पूर्व और भावना के पश्चात् जप करना चाहिये। ऐसा क्रम यहाँ समझना चाहिये। अर्थात् पहले जप करें, फिर भावना और पुनः जप करें। ऐसा करने से चित्त सद्यः एकाग्र होता है। ऐसा ही विष्णुपुराण में कहा गया है-

स्वाध्यायाद् योगमासीत योगात्स्वाध्यायमासते।
स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशयते॥

-विष्णुपुराण 6/62

अर्थात् योगसाधक को स्वाध्याय अर्थात् प्रणवजप के पश्चात् योग अर्थात् ईश्वरभावना करनी चाहिये और ईश्वरभावना के पश्चात् जप करना

चाहिये। इस प्रकार जप तथा भावना के प्रकर्ष से परमेश्वर का साक्षात्कार होता है।

जप और भावना का निरन्तर सेवन ही ईश्वरप्रणिधान कहलाता है। जप-साधना एक निरापद मार्ग है। यदि साधक में यम नियमादि का अनुष्ठान करने की योग्यता न भी हो तो भी ओम् के जप से ही योगसिद्धि हो सकती हैं स्वयं भगवान् कह रहे हैं-

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम्॥

–गीता 8/13

यहाँ यह शंका की जा सकती है कि प्रणव के जप से ही परम गति प्राप्त होती है तब तो इन्द्रियनिग्रह व्यर्थ हुआ? किन्तु यह शंका ठीक नहीं। प्रणवजप का यह अर्थ नहीं है कि केवल वाणी से उच्चारण करने से ही भगवान् परम गति प्रदान करते हैं। मनोनिग्रह और प्राणधारणा के बिना जप प्रभावशाली नहीं हो सकता। इसलिये उपर्युक्त श्लोक में प्रणवजप के निर्देश से पहले भगवान् ने स्वयं ये कहा है कि सर्वप्रथम इन्द्रियद्वारों को संयत करें, पुनः मन को हृदयदेश में निरुद्ध करें, तदनन्तर प्राण को मूर्धा में स्थित करें। तब कहीं जाकर प्रणव जप करना चाहिये।

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्॥

गीता 8/12

ईश्वरप्रणिधान का फल

पूर्वोक्त ईश्वरप्रणिधान का मुख्य प्रयोजन तो समाधिलाभ ही है किन्तु इसके साथ दो लाभ और भी हैं। एक है प्रत्यक् चेतना का अधिगम और योगविघ्नों का अभाव। ये तीनों लाभ एक साथ ही होते हैं। ऐसा नहीं है कि पहले समाधिलाभ हो, पुनः प्रत्यक् चेतना का साक्षात्कार हो और फिर विघ्नों का अभाव हो। अपितु ये तीनों प्रयोजन साथ-साथ ही सिद्ध होते हैं। योग के मध्य में आने वाले विघ्नों का नाश भी होता रहता है। योग की निर्विघ्न साध ना से प्रत्यक् चेतना का साक्षात्कार भी प्रारम्भ हो जाता है और समाधिलाभ भी होता जाता है।

प्रत्यक् चेतना

प्रत्यक् चेतना क्या है यह बात ठीक से समझ लेनी चाहिये अन्यथा आगे अध्ययन में संशय बना रह सकता है। चेतना का अर्थ तो चैतन्य या आत्मा

ही है जिसे सांख्य तथा योगदर्शन में पुरुष भी कहा जाता है। यह चेतना या आत्मा दो प्रकार की है - एक प्रत्यक् चेतना या प्रत्यगात्मा तथा दूसरा बाह्य चेतना या बाह्य आत्मा । यद्यपि आत्मा एक ही है किन्तु दो रूपों में उसकी अनुभूति होती है। आत्मा या चेतना का जो शुद्ध आन्तरिक स्वरूप है वह प्रत्यगात्मा या प्रत्यक् चेतना कहा जाता है। यह आत्मा का वास्तविक स्वरूप है जो त्रिगुणरहित है। दूसरा आत्मा जो हमें कर्ता भोक्ता सुखी-दुःखी देही तथा त्रैगुण्य से युक्त के रूप में प्रतिदिन के व्यवहार में अनुभव में आता है यह बाह्य चेतना है। जीवनयात्रा में मनुष्य को इसी बाह्य चेतना की अनुभूति अधिक होती है। इसका वास्तविक स्वरूप जो त्रिगुणातीत है अकर्त्ता, अभोक्ता, निष्क्रिय और कूटस्थ है उससे हमारा परिचय नहीं हो पाता। यही प्रत्यगामा है। ईश्वरप्रणिधान से योगसाधक को उक्त प्रत्यगात्मा का साक्षात्कार होता है।

चित्तविक्षेप की अवधारणा

चित्तविक्षेपकों को ही योगान्तराय कहते हैं। जो चित्त को विक्षिप्त करके उसे एकाग्रता से च्युत कर देते हैं उन्हें योगान्तराय अथवा योगविघ्न कहा है। 'योगस्य अन्तः मध्ये आयान्ति ते अन्तरायाः।' ये योग के मध्य में आते हैं। इसलिये इन्हें योगान्तराय कहा जाता है। विघ्नों से व्याहत होकर योगसाधक साध ना को बीच में ही छोडकर चल देते हैं। या ता विघ्न आयें ही नहीं , अथवा यदि आयें तो उनको सहन करने की शक्ति चित्त में आ जाये, ऐसी कृपा ईश्वर ही कर सकता है। यह तो सम्भव नहीं कि विघ्न न आयें। 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि' शुभ कार्यों में विघ्न आया ही करते हैं। उनसे टकराने का साहस योगसाधक में होना चाहिये। ये दोनों बातें ईश्वरप्रणिधान से ही सम्भव हैं। यदि ईश्वरप्रणिधान में संवेग की तीव्रता हो तो यह भी सम्भव है कि विघ्न दूर से ही योगसाधक को छोडकर चले जायें, या उनके पास आयें ही नहीं । किन्तु यदि आ भी जायें तो साधक की जपसाधना उन्हें निर्वीर्य बना देती है।

चित्तविक्षेप का कारण

चित्त के विक्षेपक नौ अन्तराय हैं- व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व और अनवस्थितत्व। उक्त नौ अन्तराय ही चित्त को विक्षिप्त करते हैं अतः ये योगविरोधी हैं। चित्तवृत्तियों के साथ इनका अन्वयव्यतिरेक है। अर्थात् इन विक्षेपों के होने पर प्रमाणादि वृत्तियाँ होती हैं। जब ये नहीं होते तो वृत्तियाँ भी नहीं होती। वृत्तियों के अभाव में चित्त स्थिर हो जाता है। इस प्रकार चित्तविक्षेप के प्रति ये उक्त नौ अन्तराय ही कारण हैं।

व्याधि(Disease)

धातुरसकरणवैषम्यं व्याधिः - धातुवैषम्य, रसवैषम्य तथा करणवैषम्य को व्याधि कहते हैं। वात, पित्त और कफ ये तीन धातुएँ हैं। इनमें से यदि एक भी कुपित होकर न्यून या अधिक हो जाये तो यह धातुवैषम्य कहलाता है। जब तक देह में वात, पित्त और कफ समान मात्रा में हैं तो तब इन्हें धातु कहा जाता है। जब इनमें विषमता आ जाती है तब इन्हें दोष कहा जाता है। धातुओं की समता में शरीर स्वस्थ रहता है। विषमता में रुग्ण हो जाता है।

खाये हुए अन्न का और पिये हुए जल का जब अच्छी तरह से परिपाक नहीं हो पाता तो यह रसवैषम्य कहलाता है। रसवैषम्य शरीर को रोगी बनाता है। ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों की शक्ति का मन्द हो जाना करणवैषम्य है। योगसाधना के लिये सशक्त और दृढ इन्द्रियों की आवश्यता होती है। धाातु रस तथा करण इन तीनों के वैषम्य को व्याधि कहते हैं। रोगी शरीर से समाधि का अभ्यास सम्भव नहीं है। अतः व्याधि समाधि का अन्तराय है।

व्याधि और आधि में थोड़ा अन्तर है। व्याधि दैहिक रोग है। कास, श्वास, ज्वर, अतिसार, क्षय, अपस्मार आदि व्याधियाँ कहलाती हैं। मानसिक रोग को आधि कहा जाता है। स्मरणशक्ति का अभाव, उन्माद, अरुचि, घृणा, काम, क्रोधादि का आधिक्य आदि मानसिक रोग कहलाते हैं। व्याधि शब्द में लगा हुआ 'वि' उपसर्ग उसे आधि से पृथक् करता है। 'विशेषेण आधीयते अनुभूयते मनसा इति व्याधिः'- चूँकि शारीरिक रोग मन को आधि की तुलना में अधिक कष्टकारक अनुभूत होता है इसलिये शारीरिक रोग का व्याधि नाम सार्थक सिद्ध होता है। व्याधिग्रस्त शरीर से समाधि का अभ्यास हो ही नहीं सकता।

स्त्यान (Dullnes)

'स्त्यानं अकर्मण्यता चित्तस्य'- चित्त की अकर्मण्यता को स्त्यान कहते हैं।समाधि का अभ्यास करने की इच्छा तो चित्त में होती है किन्तु वैसा सामर्थ्य उसमें नहीं होता। केवल इच्छा से योग सिद्ध नहीं होता, अपितु उसमें योगाभ्यास की शक्ति होनी चाहिये। कामादि दोष चित्त को इतना दुर्बल बना देते हैं कि इच्छा होने पर भी वह योग की दिशा में उन्मुख नहीं हो पाता। पत्नी का मोह, पुत्रों की आसक्ति, विषयभोग की लालसाएँ तथा जीविकोपार्जन के व्यापार चित्त को उलझाये रखते हैं कि चित्त अकर्मण्यता अनुभव करता है। अकर्मण्यता समाधि में अन्तराय है।

संशय (Doubt)

'उभयकोटिस्पृग् विज्ञानं संशयः'- उभयकोटिविषयक ज्ञान संशय कहलाता है। ऐसा भी हो सकता है, ऐसा नहीं भी हो सकता है, इस प्रकार का ज्ञान संशय है। योग के विषय में जब साधक को कभी-कभी यह संशय होता है कि मैं योग का अभ्यास कर सकूंगा या नहीं? क्या मुझे सफलता मिलेगी? क्या समाधि से कैवल्य प्राप्त हो सकेगा? हो सकता है मेरा परिश्रम व्यर्थ चला जाए? तब यह संशयात्मक ज्ञान योग का विघ्न बन जाता है। योग के लिये तो निश्चयात्मक दृढ ज्ञान ही अपेक्षित है। तत्त्वज्ञान का एक मात्र साधन समाधि ही है समाधि से ही कैवल्य प्राप्त होगा। मैं एक दिन अवश्य ही सफलता प्राप्त करूंगा, जब तक ऐसा दृढ विश्वास नहीं होगा तब तक समाधि की सिद्धि सम्भव नहीं । संशय समाधि का अन्तराय है।

प्रमाद(Procrastination)

'समाधिसाधनानामभावनम्'- समाधि के साधनों में उत्साहपूर्वक प्रवृत्ति न होना प्रमाद कहलाता है।समाधि का अभ्यास प्रारम्भ कर देने पर उसमें वैसा ही उत्साह और दृढता निरन्तर बनी रहनी चाहिये जैसा उत्साह प्रारम्भ में था । प्रायः युवावस्था का मद, धन और प्रभुत्व का दर्प तथा शरीरिक सामर्थ्य का मद साधक के उत्साह को शिथिल कर देता है। अतः प्रमाद समाधि में अन्तराय है।

आलस्य (Laziness)

'आलस्यं कायस्य चित्तस्य च गुरुत्वादप्रवृत्तिः' - काम के आधिक्य से शरीर तथा तमोगुण के आधिक्य से चित्त भारीपन का अनुभव करता है। शरीर और चित्त के भारी होने से आलस्य के साधनों में प्रवृत्ति नहीं होती । इसी का नाम आलस्य है। प्रमाद और आलस्य में बहुत अन्तर है। प्रमाद प्रायः अविवेक से उत्पन्न होता है। आलस्य में अविवेक तो नहीं होता किन्तु गरिष्ठ भोजन से शरीर व चित्त भारी हो जाता है। ज्ञानवान् पुरुष भी आलसी हो सकते हैं किन्तु ज्ञानवान् पुरुष प्रमादी नहीं होते। प्रमाद में यौवन धन और प्रभुत्व का दर्प हेतु होता है जबकि आलस्य का कारण तमोगुण तथा गरिष्ठ और कफकारक भोजन है। यह आलस्य योग का अन्तराय है। निद्रा का वेग मनुष्य को आलसी बना देता है। प्रातःकाल में स्नान, ध्यान, जप, तप, स्वाध्याय आदि के लिये शरीर और चित्त का हल्का होना अनिवार्य है। आलसी व्यक्ति समाधि का अभ्यास नहीं कर सकता।

अविरति (Worldly mindedness)

'चित्तस्य विषयसम्प्रयोगात्मा गर्धः अविरतिः।' शब्दादि विषयों के भोग से तृष्णा उत्पन्न होती है। तृष्णा वैराग्य का शत्रु है। समाधि के लिये वैराग्य प्रमुखतम साधन है। अतः वैराग्याभाव योग का अन्तराय है । कामिनी का अप्रतिम रूपसौन्दर्य कभी-कभी ज्ञानवान् पुरूषों को भी रागी बना देता है। पत्नी के कोमलकान्त वचन, उनके अंगों का मोहक स्पर्श, पुष्पादि का आह्लादक गन्ध तथा स्वादिष्ट भोज्य पेय आदि व्यंजनो का रस कभी-कभी तत्त्वज्ञान को भी आवृत करके साधक को संसार में आसक्त बना देता है। विषयों के प्रति यह आसक्ति ही अविरति है। यह अविरति योग का महान् विघ्न है।

भ्रान्तिदर्शन (Illusion)

'भ्रान्तिदर्शनं विपर्ययज्ञानम्'- अर्थात् मिथ्याज्ञान को भ्रान्तिदर्शन कहते हैं। अन्य वस्तु में अन्य वस्तु का ज्ञान ही मिथ्याज्ञान है। जब साधक योग को असाधन और असाधनों को साधन समझने लगता है तो यह भ्रान्तिदर्शन योग का विघ्न बन जाता है।

भ्रान्तिदर्शन और संशय में यह अन्तर है कि संशय में निश्चय का अभाव होता है। यह ऐसा है या ऐसा? यह अनिश्चयात्मक ज्ञान संशय है। भ्रान्तिदर्शन में निश्चय होता है। अविवेकी पुरुष वस्तु को अवस्तु निश्चित रूप से मान बैठता है। यही दोनों में अन्तर है।

अलब्धभूमिकत्व (Inability to find any state of yoga)

'अलब्धभूमिकत्वं समाधिभूमेरलाभः' - अर्थात् समाधि की किसी भी भूमि की प्राप्ति न होना भी योग में विघ्न है। समाधि की चार भूमियाँ हैं- सवितर्क, निर्वितर्क, सविचार और निर्विचार । इन्हीं का नाम क्रमशः मधुमती, मधुप्रतीका, विशोका तथा संस्कारशेषा है। योगाभ्यास जैसे-जैसे आगे बढ़ता है वैसे-वैसे योगी को इन भूमियों की प्राप्ति होती जाती है। जब प्रथम भूमि की प्राप्ति हो जाती है तो योगी का उत्साह बढ़ जाता है। वह सोचता है कि जब प्रथम भूमि प्राप्त हो गयी है तो अन्य भूमियाँ भी अवश्य ही प्राप्त होंगी। यह सोचकर वह दुगुने उत्साह से साधना में संलग्न रहता है। किन्तु निरन्तर अभ्यास करते रहने पर भी जब साधक को प्रथम भूमि भी प्राप्त नहीं होती तो उसका उत्साह शिथिल पड़ जाता है। वह सोचता है जब इतना प्रयास करने पर भी अभी तक समाधि की प्रथम भूमि भी प्राप्त नहीं हुई तो भविष्य में भी सम्भवतः प्राप्त न हो। ऐसा सोचकर वह साधना को बीच में ही छोड बैठता है। अतः योग की भूमियों की प्राप्ति साधक को अवश्य होनी चाहिये तभी वह आगे की

साधना को निरन्तर रखने के लिये उत्साहसम्पन्न हो सकेगा। अतः अलब्ध भूमिकत्व भी योग का अन्तराय है।

अनवस्थितत्व (Instability)

'लब्धायां भूमौ चित्तस्याप्रतिष्ठा अनवस्थितत्वम्'- यदि किसी प्रकार मधुमती आदि भूमियों में से किसी एक की प्राप्ति हो जाये किन्तु उसमें निरन्तर चित्त की स्थिति न हो तो यह अनवस्थितत्व कहलाता है। बार-बार चित्त उस भूमि का स्पर्श करके लौट आता है, उसमें कुछ काल तक स्थिर नहीं रह पाता तो भी योगसाधक का उत्साह गिर सकता है। यह वैसी ही स्थिति है जैसे ध नार्थी धन के पास तक जो पहुँच जाये किन्तु उसे प्राप्त न कर सके। प्राप्त करने से पहले ही वह तिरोहित हो जाये । लब्धभूमि में कुछ काल तक चित्त का स्थिर रहना अवश्य ही अपेक्षित है। अन्तिम भूमि का लाभ होने पर ही द्रष्टा की स्वरूप में स्थिति होती है।

इस प्रकार नौ चित्तविक्षेप योग के अन्तराय कहलाते हैं। इन्हीं को चित्तमल तथा योगप्रतिपक्ष भी कहा जाता है।

चित्तविक्षेपों के पाँच साथी

उपर्युक्त नौ अन्तरायों के अतिरिक्त पाँच विघ्न अन्य भी हैं जो व्याधि आदि चित्तविक्षेपों के साथ ही होते हैं। अर्थात जब-जब व्याधि आदि की उपस्थिति होती है तब-तब इनकी उपस्थिति भी अनिवार्य रूप से होती है। इसलिये इन्हें विक्षेपों का सहभू कहा गया है। ये पाँच सहभू इस प्रकार हैं- दुःख, दौर्मनस्य, अंगमेजयत्व, श्वास तथा प्रश्वास। इनका स्वरूप क्रमशः इस प्रकार है-

1 **दुःख (Pain)-**

येनाभिहताः प्राणिनस्तदुपघाताय प्रयतन्ते तद्दुःखम्।

- व्यासभाष्य 1/31

जिसके साथ सम्बन्ध होने से पीड़ित हुए प्राणी उस प्रतिकूलवेदनीय हेय दुःख की निवृत्ति के लिये प्रयत्न करते हैं वह दुःख कहा जाता है। यह दुःख तीन प्रकार का है- आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक। आध्यात्मिक दुःख भी दो प्रकार का है- शारीरिक तथा मानसिक। शरीर में रहने वाला ज्वरातिसार आदि से जन्य दुःख शारीरिक दुःख कहलाता है तथा कामक्रोधादि

से जन्य दु:ख मानसिक दु:ख कहा जाता है। यद्यपि मनोजन्य होने से शारीरिक दु:ख भी मानसिक दु:ख कहे जाने चाहियें फिर भी जो केवल मन से जन्य हैं वे दु:ख मानसिक हैं तथा जो शरीर के द्वारा मनोजन्य हैं वे दु:ख शारीरिक हैं। ऐसा समझना चाहिये।

किसी प्राणी के माध्यम से जो दु:ख प्राप्त होता है वह दु:ख आधिभौतिक है और व्याघ्र-सर्प-बिच्छु-मच्छर-मक्खी आदि प्राणियों से प्राप्त दु:ख भी आधि भौतिक दु:ख कहलाता है।

किसी देव के अधिकार से जो दु:ख प्राप्त होता है वह दु:ख आधि दैविक दु:ख कहलाता है। इन्द्रादि देवों के द्वारा उपस्थापित अतिवृष्टि, अनावृष्टि, वज्रपात, ग्रहपीड़ा आदि से जन्य जो दु:ख है वह आधिदैविक दु:ख है।

ये तीनों दु:ख चित्तविक्षेप द्वारा समाधि के विरोधी हैं अत: विक्षेप के साथी होने से योगान्तराय कहे जाते हैं।

2 **दौर्मनस्य(Despair)**

'इच्छाव्याघातात् चेतसः क्षोभः दौर्मनस्यम्।'

अभिलषित पदार्थविषयक इच्छा की पूर्ति न होने से चित्त में जो क्षोभ होता है वह दौर्मनस्य कहलाता है। जब प्रयास करने पर भी इच्छा की पूर्ति नहीं होती तो चित्त व्याकुलित होता ही है। यह दौर्मनस्य भी विक्षेप का साथी होने से समाधि में विघ्न करता है।

3 **अंगमेजयत्व (Trembling of the body)-**

'यत् अगांनि एजयति कम्पयति तद् अंगमेजयत्वम्।'

जो शरीर के हस्त-चरण-शिर आदि अगों को कम्पित करता है वह अंगमेजयत्व है। शरीर की दुर्बलता से अंग कापने लगते हैं। व्याधि आदि अन्तराय शरीर को दुर्बल करते हैं जिससे अगों में कम्पन होता है। यह अगंमेयत्व आसन, प्राणायाम आदि में व्यवधान उपस्थित करता है अत: विक्षेप का साथी होने से समाधि का प्रतिपक्षी है।

4 **श्वास (Irregular inhaling)**

'प्राणो यद् बाह्यं वायुमाचामति स श्वासः।'

वह प्राण जो बाह्य वायु का नासिकाग्र के द्वारा आचमन करता है वह श्वास कहलाता है। अर्थात् भीतर की ओर जाने वाला प्राणवायु श्वास है । यह प्राणक्रिया यदि निरन्तर चलती रहे, कुछ समय के लिये भी न रुके तो चित्त समाहित नहीं हो सकता अत: यह श्वास रेचक प्राणायाम का विरोधी है:

अत: यह समाधि का अन्तराय है।

5 **प्रश्वास (Irregular exhaling)**

जो प्राण भीतर की वायु को बाहर निकालता है वह प्रश्वास कहा जाता है। यह प्रश्वास क्रिया भी निरन्तर चलती रहती है । यह भी समाधि के अंगभूत पूरक प्राणायाम का विरोधी होने से समाधि का विरोधी है। अत: विक्षेप का साथी होने से योगान्तराय कहा जाता है।

इस प्रकार दु:ख, दौर्मनस्य, अंगमेजयत्व, श्वास और प्रश्वास ये पाँच विक्षेपसहभू कहलाते हैं।

चित्तविक्षेपों के निराकरण के उपाय

महर्षि पतञ्जलि ने पूर्वोक्त नौ चित्त विक्षेपरूप योगान्तराय तथा उक्त पाँच विक्षेप के साथियों का निवारण करने के लिए एकत्व के अभ्यास का उपदेश किया है-

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः।

– योगसूत्र 1/32

अर्थात् उक्त योगान्तरायों के निराकरण के लिये साधक को ईश्वररूप एक तत्त्व में चित्त को पुन: पुन: प्रविष्ट करने का अभ्यास करना चाहिये। एकतत्त्वाभ्यास का अर्थ है वही ईश्वरप्रणिधान। ईश्वरप्रणिधान का अभ्यास करने से कोई भी विघ्न योगमार्ग में उपस्थित नहीं होता।

यद्यपि सूत्र में एकतत्त्व शब्द सामान्यरूप से पठित है अत: किसी भी स्थूल पदार्थ को एकतत्त्व शब्द से ग्रहण करने की सम्भावना हो सकती है केवल ईश्वर ही नहीं, तो भी शब्दशास्त्र का यह नियम है कि जहाँ अनेकार्थक शब्द होने से किसी एक अर्थविशेष का निश्चय न हो वहाँ प्रकरण के बल से अर्थविशेष का निश्चय किया जाता है। उदाहरण के लिए सैन्धव शब्द के दो अर्थ हैं- लवण और अश्व। यदि भोजन के प्रकरण में सैन्धव शब्द का प्रयोग किया जा रहा है तो उसका अर्थ लवण होगा । यदि गमन का प्रकरण है तो सैन्धव शब्द का अर्थ अश्व लिया जायेगा। इसी प्रकार यहाँ भी एक तत्त्व शब्द के आठ अर्थ अमरकोष में बताये गये हैं-

एकोऽन्यार्थे प्रधाने च प्रथमे केवले तथा।
साधारणे समानेऽल्पे संख्यायां च प्रयुज्यते॥

अर्थात् अन्य, प्रधान, प्रथम, केवल, साधारण, समान, अल्प तथा संख्या ये आठ अर्थ एक शब्द के हैं किन्तु यहाँ ईश्वरप्रणिधानरूप प्रकरण के बल से एकतत्त्व शब्द का अर्थ ईश्वर ही ग्रहण करना उचित है। उपक्रमोपसंहार

के नियम से भी ऐसा ही सिद्ध होता है। जिसका उपक्रम होता है उसी का उपसंहार भी होता है। उपक्रम ईश्वरप्रणिधान का है अतः सूत्रकार ने उपसंहार भी उसी से किया हैं अतः एकतत्त्व शब्द का अर्थ ईश्वर ही लेना चाहिये । कुछ आचार्यों ने एकतत्त्वाभ्यास का अर्थ यह किया है कि किसी भी स्थूल तत्त्व का अभ्यास करना चाहिये। यह अर्थ उचित नहीं है।

योगदर्शन में कर्मसिद्धान्त

भारतीय दर्शन में कर्मसिद्धान्त एक महत्वपूर्ण विचारणीय विषय रहा है। ज्यों-ज्यों इस पर विचार किया जाता है यह और भी जटिल होता जाता है। इसलिये गीता में **'गहना कर्मणो गतिः'**-4/18- कहकर कर्मसिद्धान्त की गहनता स्वीकार की गयी है। भाष्यकार व्यासदेव ने भी 'कर्मगतिश्चित्रा' कहकर कर्मगति के वैचित्र्य को स्वीकार किया है। फिर भी कर्म के विषय में कुछ बातें निर्भ्रान्त हैं तथा सभी को स्वीकार्य हैं।

यह सिद्धान्त सर्वमान्य है कि फल दिये बिना कृत कर्म का नाश नहीं होता। फल देने के पश्चात् ही कर्म का नाश होता है।

'नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि।'

सभी दर्शन इसे स्वीकार करते हैं। दूसरी मान्यता है कि कृत कर्म का फल अवश्य ही मिलता है। कर्म करने के पश्चात् कर्त्ता उसके फल से बच नहीं सकता। तीसरी सर्वमान्य बात यह है कि कर्म जिसके द्वारा किया जाता है उसका फल भी वही भोगता है। **'करे कोई भरे कोई'** की मान्यता यहाँ चरितार्थ नहीं होती ।

चतुर्थ सर्वमान्य सिद्धान्त यह है कि शुभ कर्म का फल सुख है और अशुभ कर्म का फल दुःख मिलता है। जैसी करनी वैसी भरनी की कहावत इसी तथ्य की ओर इंगित करती है। कोई भी मनुष्य अशुभ कर्म करके सुख प्राप्त नहीं कर सकता और शुभ कर्म का फल कभी दुःख नहीं हो सकता। गीता कहती है-

'न हि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति।'

– गीता 6/40

कर्म के विषय में जो गहन और विचित्र है और जिन पर विभिन्न सिद्धान्त दर्शनशास्त्र में मिलते हैं वे बातें हैं- शुभ और अशुभ की परिभाषा क्या

है? क्या कोई सार्वभौम सार्वकालिक शुभ भी है? किस कर्म का फल पहले और किस कर्म का फल पश्चात् मिलता है? कर्म का फल कौन देता है? क्या कर्म का फल कर्म ही देता है या कर्म का फल देने वाला कोई और ईश्वर आदि है? क्या मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र है? या ईश्वर की इच्छा के वश होकर मनुष्य कर्म करता है? क्या कर्म का फल इसी जीवन में मिल जाता है या आगामी जन्मों में भी मिलता है? क्या एक कर्म एक जन्म का प्रारम्भ करता है या अन्य कर्म मिलकर एक जन्म का प्रारम्भ करते हैं? इत्यादि प्रश्न विवाद के विषय हैं।

कर्म के विषय में योगदर्शन कुछ सिद्धान्तों को निर्भ्रान्त रूप में स्वीकार करता है। उन सिद्धान्तों का विवेचन यहाँ किया जायेगा। सर्वप्रथम 'कर्म क्या है' इस प्रश्न पर चर्चा करना प्रासंगिक है।

कर्म की अवधारणा

सामान्य रूप से शारीरिक चेष्टाओं को कर्म कहा जाता है किन्तु सभी प्रकार की शारीरिक चेष्टाओं को कर्म नहीं कह सकते । जिन चेष्टाओं के साथ मन का सम्बन्ध होता है वे ही चेष्टाएं कर्म कही जाती हैं। कृ धातु से मननार्थक मनिन् प्रत्यय लगने पर कर्म शब्द निष्पन्न होता है। इसका अर्थ हुआ कि विचार पूर्वक जो शुभ या अशुभ कर्म किया जाता है उसी कर्म पर दर्शनशास्त्र में विचार किया जाता है। कर्म से कर्माशय तभी बन सकता है जब उस कर्म के साथ मन का सम्बन्ध हो । कर्माशय के माध्यम से ही कर्म कालान्तर में फल प्रदान करता है। जो कर्म मन:सम्बन्ध के अभाव में किये जाते हैं उनसे कर्माशय नहीं बनता अत: वे कर्म फल भी प्रदान नहीं करते । ज़ैसे पलकों का झपकना, हृदय का धड़कना, रक्त का प्रवाह तथा बैठे-बैठे अंगों का हिलाना आदि चेष्टाएँ कर्म नहीं कही जातीं, क्योंकि इच्छा के बिना ही स्वभाववश ये क्रियाएँ की जाती हैं। श्वास-प्रश्वास भी कर्म नहीं कहा जाता क्योंकि ये क्रियाएँ स्वत: ही चलती रहती हैं। इसीलिए मार्ग में चलते हुए पैरों के नीचे दबकर छोटे-छोटे कीटाणुओं के मर जाने पर हिंसाजन्य पाप नहीं होता। इसी प्रकार अनजाने में जब कोई शुभ कर्म हो जाता है तो यह कर्म भी उस कर्ता का नहीं कहलाता।

कर्म करने का यह सौभाग्य मनुष्य को ही प्राप्त है अन्य प्राणियों को नहीं, क्योंकि केवल मनुष्य ही विचार करके चेष्टाएँ करता है। यह विचार ही मनुष्य को पशुओं से पृथक् करता है। पशु कर्म नहीं करते क्योंकि विचार का सामर्थ्य उनमें नहीं है। वे केवल भोग द्वारा पूर्वकृत कर्मों का क्षय करते हैं। देवता भी कर्म नहीं करते क्योंकि विचार करने का समय ही उनके पास नहीं

होता। वे तो अपने शुभ कर्मों का फल सुखभोग के रूप में प्राप्त करते हैं तथा पुण्यों का क्षय होने पर पुनः इस धराधाम पर लौट आते हैं। **'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति'**- गीता 9/21 - यह गीतावचन इसमें प्रमाण है। देवगण नूतन कर्म नहीं करते, केवल पूर्वकृत शुभकर्मों का ही फल भोगते हैं। यह सामर्थ्य केवल मनुष्य को ही प्राप्त है कि वह नूतन कर्म करने में भी स्वतन्त्र है तथा पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मों का फल भी भोगता है।

निष्कर्ष यह हुआ कि भारतीय दर्शन में कर्म उस शारीरिक चेष्टा को कहते हैं जिसके साथ मन का सम्बन्ध हो। अर्थात् मैं यह कार्य कर रहा हूँ, इसका यह उद्देश्य है, इससे मुझे यह लाभ होगा, ऐसी भावना के साथ शरीर तथा इन्द्रियों से जो चेष्टा की जाती है उसी का नाम कर्म है। उसी कर्म से कर्माशय बनता है वही कर्माशय कालान्तर में फल देता है। कर्म क्षणिक है किन्तु कर्माशय तब तक स्थायी रहता है जब तक फल न दे दे। फल देने के पश्चात् वह कर्माशय भी नष्ट हो जाता है।

कर्म के भेद

योगदर्शन के अनुसार कर्मों की जाति चार प्रकार की हैं अर्थात् संसार में जितने भी प्रकार के मनुष्य हैं उनके द्वारा जो भी कर्म सम्पादित किए जाते हैं उन समस्त कर्मों को चार भागों में विभाजित किया जा सकता है- 1 शुक्ल कर्म, 2 कृष्ण कर्म, 3 शुक्लकृष्ण कर्म, 4 अशुक्लाकृष्ण कर्म

1 शुक्ल कर्म (virtuous action)

तप स्वाध्याय तथा ध्यान करने वाले पुरूष की जो कर्मजाति है वह शुक्ल कहलाती है। अर्थात् तप स्वाथ्याय तथा ध्यान शुक्ल कर्म हैं क्योंकि ये कर्म मनः-साध्य हैं। इनके लिये बाह्य साधनों की अपेक्षा नहीं होती है इसलिये अन्य किसी प्राणी को पीड़ा देकर ये कर्म उत्पन्न नहीं होते। ऐसे शुक्ल कर्मों को पुण्य कहा जाता है । तप स्वाध्याय तथा ध्यान सात्त्विक मन से जन्य होने से परपीड़ाजनक नहीं होते इसलिये उक्त शुक्ल कर्मों का फल केवल सुख होता है।

2 कृष्ण कर्म (vicious action)

कृष्णा दुरात्मनाम्- पापी दुरात्मा पुरुषों की कर्मजाति कृष्ण कहलाती है। अर्थात् पापी पुरुषों के जो तमोमूलक ब्रह्महत्या , सुरापान, सुवर्ण की चोरी, परस्त्रीगमन तथा पापियों की संगति आदि कर्म हैं वे कृष्ण कर्म कहलाते हैं। इनका फल केवल दुःख होता है।

3 शुक्लकृष्ण कर्म (Mixed Action)

जो कर्म देह इन्द्रिय आदि आभ्यन्तर साधनों के साथ-साथ पशु, घृत, मधु आदि बाह्य साधनों के भी अधीन होते हैं वे कर्म शुक्ल और कृष्ण दोनों ही होते हैं। जैसे यज्ञादि कर्म शुक्लकृष्ण कहलाते हैं।

भाव यह है कि पुण्यजनक शुभ कर्म शुक्ल कहलाते हैं। तथा पापजनक अशुभ कर्म कृष्ण कर्म कहे जाते हैं। तथा जो पुण्य और पाप उभयजनक होते है वे शुक्लकृष्ण कर्म कहलाते हैं। यज्ञादि कर्म उभयजनक होने से शुक्लकृष्ण कहा जाता है। क्योंकि उसमें पशुओं का वध होता है, व्रीहि यवादि बीजों का वध होता हैं तथा पिपीलिका आदि शुद्ध प्राणियों का वध होता है। इसलिये यज्ञ पापजनक है किन्तु ब्राह्मण भिक्षु आदि को दक्षिणा दानादि के देने से पुण्य भी होता है। पुण्यजनक होने से यज्ञादि सुख के हेतु हैं तथा पापजनक होने से दुःख भी प्रदान करते हैं। अतः यज्ञादि कर्म शुक्लकृष्ण कहलाते हैं।

शुक्लकृष्णा बहिःसाधनसाध्या। तत्र
परपीडानुग्रहद्वारेणैव कर्माशयप्रचयः।

-व्यासभाष्य 4/7

4 अशुक्लाकृष्ण कर्म (Beyond virtue and vice action)

जो कर्म न शुक्ल होते है और न कृष्ण होते हैं ऐसे कर्म अशुक्लाकृष्ण कहलाते हैं। उनसे न पुण्य की उत्पत्ति होती है और न पाप की। जिनके अविद्यादि क्लेश क्षीण हो चुके हैं तथा जिनके वर्तमान देह के अनन्तर अन्य देह की प्राप्ति नहीं होती ऐसे सन्यासी वीतराग सिद्ध योगियों के कर्म अशुक्लाकृष्ण होते हैं। सम्प्रज्ञात समाधि का अनुष्ठान अशुक्ल और अकृष्ण है। सिद्ध योगी अपने दैनिक व्यवहार में जो भी भोजन, गमन, शयन आदि अन्य क्रियाएँ करता है वे क्रियाएँ भी अशुक्लाकृष्ण होती है क्योंकि उनका मूल सत्त्वादि गुण नहीं होते। इसलिये ऐसे कर्मों का फल न सुख होता है और न दुःख। क्योंकि फल की इच्छा से संन्यासी कर्म करता ही नहीं।

योगियों से भिन्न जो अन्य मनुष्य हैं उनके कर्म या तो शुक्ल होते हैं या कृष्ण अथवा उभयात्मक। यही बात महर्षि पतञ्जलि इस सूत्र में कह रहे हैं-

कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्

- योगसूत्र 4/7

कर्माशय क्लेशमूलक है

शुभ और अशुभ कर्मों को करने से चित्त में जो एक अदृष्टविशेष उत्पन्न होता है जिसे धर्माधर्म तथा पुण्य-पाप भी कहते हैं उसका मूल अविद्यादि क्लेश हैं। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश इन पाँच क्लेशों के वश में होकर ही

मनुष्य कर्म करता है। उन कर्मों से धर्माधर्मरूप कर्माशय बनता है। कर्माशय वासनारूप हैं यह तब तक स्थायी रहता है जब तक सुख और दुःख रूप फल नहीं देता। अतः समस्त कर्माशयों का मूल अविद्यादि क्लेश ही हैं।

कर्मफल के दो भेद

अविद्यादि क्लेश अथवा काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि से जो कर्माशय उत्पन्न होता है वह फल की दृष्टि से दो प्रकार का है- दृष्टजन्मवेदनीय और अदृष्टजन्मवेदनीय। जिन कर्माशयों का फल सुख और दुःख इसी वर्तमान जन्म में भोगना पड़ता है वे कर्माशय दृष्टजन्मवेदनीय कहलाते हैं तथा जिनका फल वर्तमान जन्म मे प्राप्त न होकर भविष्यत्काल में प्राप्त होने वाले देहों में भोगा जाता है उन कर्माशयों को अदृष्टजन्मवेदनीय कहा जाता है। किन कर्मों का फल दृष्टजन्मवेदनीय है और किन कर्मों का फल अदृष्टजन्मवेदनीय है इस पर विचार करना आवश्यक है।

दृष्टजन्मवेदनीय कर्म

'तीव्रसंवेगानामासन्नः ' - योगसूत्र 1/21- महर्षि पतञ्जलि का यह सूत्र सर्वत्र चरितार्थ होता है। अर्थात् जिस कर्म में संवेग की तीव्रता होती है उसका फल शीघ्र प्राप्त होता है। कर्म चाहे शुभ हो या अशुभ हो वह जितने मनोयोग से किया जायेगा उतना ही शीघ्र उसका परिपाक होता है।

उग्र प्रयत्नपूर्वक जब जप, तप तथा समाधि का अनुष्ठान किया जाता है अथवा ईश्वर देवता तथा महर्षि आदि महानुभावों की आराधना की जाती है तो इससे धर्मरूप कर्माशय उत्पन्न होता है वह वर्त्तमान जन्म में ही फल देने के लिये उद्यत हो जाता है। यही बात भाष्यकार व्यासदेव कह रहे हैं-

> **तीव्रसंवेगेन मन्त्रतपःसमाधिभिर्निर्वर्तितः**
> **ईश्वरदेवतामहर्षिमहानुभावानामाराधनाद्वा**
> **यः परिनिष्पन्नः स सद्यः परिपच्यते**
> **पुण्यकर्माशय इति।**

-व्यासभाष्य- 2/12

पापकर्माशय की भी यही स्थिति है। जब उग्र मनोयोग के साथ किसी भयभीत, व्याधि से पीडित तथा दुःखी प्राणी को कष्ट दिया जाता है , अथवा विश्वास करने वाले मित्रों के साथ विश्वासघात किया जाता है तथा महानुभाव

तपस्वियों का अपकार या अपमान किया जाता है तो ऐसे भयानक कर्मों से पाप कर्माशय बनता है। तीव्र संवेग के कारण इसका परिपाक भी शीघ्र ही हो जाता है। अर्थात् अतिशीघ्र फल देने के लिये उद्यत हो जाता है। यह पापकर्माशय भी दृष्टजन्मवेदनीय ही है। उदाहरण के लिये शिलाद मुनि का पुत्र नन्दीश्वर कुमार भगवान् शिव की अत्युग्र आराधना से इसी जन्म में मनुष्यदेह को त्याग कर देवभाव को प्राप्त हुआ था।

पौराणिक कथा के अनुसार नन्दीश्वर को नारद जी के मुख से यह जानकर कि उसकी आयु केवल आठ वर्ष की है और उसमें केवल आठ दिन शेष हैं, अत्यन्त वैराग्य हो गया। नारद जी की प्रेरणा से उसने महादेव की अत्युग्र संवेग से अर्चना प्रारम्भ की। आठ दिन के पश्चात् महादेव की कृपा से उसका वर्त्तमान शरीर ही देवशरीर से परिणत होकर देवलोक को प्राप्त हुआ। जिस प्रकार के पुण्य के प्रभाव से यह फल प्राप्त हुआ था उसी प्रकार के कर्माशय को दृष्टजन्मवेदनीय कहते हैं।

इसी प्रकार राजा नहुष अपने पुण्यों के प्रभाव से देवों का राजा बन गया, किन्तु एक दिन शिविका के वहन में संलग्न अगस्त्यमुनि पर उसने चरणप्रहार कर दिया। उसके इस भयंकर पाप कर्म के कारण अगस्त्य मुनि के शाप से वह अपने देवशरीर को त्याग करके सर्पशरीर को प्राप्त हुआ था। जिस पाप के प्रभाव से नहुष का पतन हुआ उस प्रकार के पाप कर्माशय को भी दृष्टजन्मवेदनीय कहते हैं।

नन्दीश्वर की कथा शिवपुराण के सनत्कुमारसंहिता के 45वें अध्याय में आयी है तथा नहुष की कथा महाभारत के अनुशासन पर्व में 100वें अध्याय में है। जिज्ञासुओं को विस्तारपूर्वक देखने की इच्छा हो तो वहीं देखनी चाहिये।

अदृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय

जिन कर्मों को करते समय मनोवेग तीव्र नहीं होता अपितु सामान्य भावना के साथ किये जाते हैं उन कर्मों का कर्माशय भी संवेगरहित होता है। ऐसे कर्माशयों का परिपाक शीघ्र नहीं होता। ऐसे साधारण कर्मों का कर्माशय दीर्घ समय तक चित्त में संगृहीत होता रहता है। आगामी जन्मों में शनैः शनैः समयानुसार वे कर्म फल देते हैं। ऐसे कर्माशय अदृष्टजन्मवेदनीय हैं।

जिन कर्मों से रौरव कुम्भीपाक आदि नरक प्राप्त होते हैं उन पाप कर्मों के करने वाले मनुष्यों के जो अधर्मरूप कर्माशय हैं वे भी दृष्टजन्मवेदनीय नहीं हैं। उनका परिपाक भी अदृष्टजन्मों में अर्थात् नरक लोक में होता है वर्तमान

जन्म में उन कर्मों का फल प्राप्त नहीं होता।

'नारकाणां नास्ति दृष्टजन्मवेदनीयः कर्माशयः।'

–व्यासभाष्य–2/12

क्योंकि सहस्त्रों वर्ष पर्यन्त उपभोग योग्य जो वेदना है वह शतवर्ष-परिमित आयु वाले मनुष्यदेह में सम्भव नहीं है। इसी प्रकार जिन शुभकर्मों का सुख रूप फल स्वर्गादि लोकों में भोग्य है उन कर्माशयों का फल भी अदृष्टजन्मवेदनीय होता है।

जिन सिद्ध योगियों के अविद्यादि क्लेश क्षीण हो चुके हैं उनके कर्माशय भी अदृष्टजन्मवेदनीय नहीं होते। सिद्ध योगियों के अविद्यादि क्लेश क्रियायोग से क्षीण होकर प्रसंख्यान की अग्नि से दग्ध हो चुके हैं उनके धर्मरूप कर्माशयों का फल जन्मान्तर में प्राप्त नहीं होता क्योंकि उनके जन्मान्तर के प्रारम्भक जो कर्म थे वे तो प्रसंख्यान की अग्नि से दग्ध हो चुके हैं। अतः उनका नवीन जन्म सम्भव नहीं हैं। अतः भाष्यकार ने कहा है कि क्षीणक्लेश योगियों का कर्माशय अदृष्टजन्मवेदनीय नहीं होता।

क्षीणक्लेशानामपि नास्त्यदृष्टजन्मवेदनीयः कर्माशयः।

– व्यासभाष्य 2/12

कर्मविपाक का त्रैविध्य

यह अभी कहा गया है कि धर्माधर्मरूप कर्माशय का मूल अविद्यादि क्लेश हैं। अविद्यादि से प्रेरित होकर ही मनुष्य कर्म करता है। कर्मों से कर्माशय का निर्माण होता है।वे ही कर्माशय दृष्ट और अदृष्ट जन्मों में फल प्रदान करते हैं।। कर्माशयों का फल सुख और दुःख के रूप में प्रत्येक प्राणी को भोगना पड़ता है। जब उन कर्माशयों का मूल अविद्यादि क्लेश नष्ट हो जाते हैं तो वे कर्माशय संसार को उत्पन्न नहीं करते। जैसे जब तक धान के चावल तुष(भूसी)से ढके हुए हैं और जब तक अग्नि के द्वारा उनका बीजभाव नष्ट नहीं किया गया है तभी तक वे अंकुर के उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं। जब उनका तुष हटा लिया जाता है तथा बीजभाव दग्ध कर दिया जाता है तब वे अंकुरण में समर्थ नहीं होते। उसी प्रकार अविद्यादि क्लेशों से सम्बद्ध होकर ही कर्माशय जन्मादिरूप अंकुर को उत्पन्न कर सकते हैं। प्रसंख्यानरूप अग्नि से जब अविद्यादि क्लेशों का नाश कर दिया जाता है तब वे जन्मादिरूप फल प्रदान नहीं करते। इसलिये जो लोग यह कहते हैं कि अनन्त और असंख्य कर्माशयों के रहते हुए जन्म मरण रूप संसार का उच्छेद सम्भव नहीं है उनका यह कथन

समीचीन नहीं। कारण के नाश से कार्यरूप संसार का उच्छेद सम्भव है।

कर्माशय का फल तीन प्रकार का है- जाति, आयु तथा भोग। जाति का अर्थ है मनुष्यादि शरीरों की प्राप्ति, आयु का अर्थ है जीवनकाल तथा भोग का अर्थ है सुख दुःख का साक्षात्कार। पूर्वकृत कर्मों के अनुसार ही प्राणी का जन्म मनुष्य, पशु पक्षी, मृग, सरीसृप आदि योनियों में होता है। कर्मों के अनुसार ही वह सौ वर्ष तक या साठ वर्ष तक जीवित रहता है और तदनुसार ही सुख-दुःख का भोग करता है। सूत्रकार यही बात इस सूत्र में कह रहें हैं-

'सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः।'

-योगसूत्र 2/13

एकभविकवाद

एकभविकवाद योगदर्शन का अति महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। इसके बिना कर्मफल सिद्धान्त को पूर्णरूप से नहीं समझा जा सकता। एकभविकवाद का अर्थ है कि अनेक कर्म मिलकर एक जन्म का निर्माण करते हैं इसको अच्छी प्रकार समझाने के लिये भाष्यकार ने चार विकल्प उठाये हैं।

1 प्रथम विकल्प - क्या एक कर्म एक जन्म का कारण है?
2 द्वितीय विकल्प - अथवा एक कर्म अनेक जन्मों का कारण है?
3 तृतीय विकल्प - क्या अनेक कर्म अनेक जन्मों का निर्माण करते हैं?
4 चतुर्थ विकल्प - अथवा अनेक कर्म एक जन्म का निर्माण करते हैं?

इन चारों विकल्पों की युक्तिपूर्वक परीक्षा करने के लिये भाष्यकार कहते हैं कि- एक कर्म आगामी एक जन्म का कारण तो हो नहीं सकता, क्योंकि अनादि काल के जन्मों में संचित, फल देने के पश्चात् बचे हुए असंख्य प्राचीन तथा नूतन कर्मों के फल का क्रम नियत न होने से लोगों में अविश्वास बढ़ेगा। अर्थात् यह विश्वास करना असम्भव हो जायेगा कि प्राचीन तथा नूतन कर्मों में से कौन एक कर्म फल देगा। यह अविश्वास किसी को भी अभिमत नहीं होगा।

भाव यह है कि पूर्व के असंख्य कर्मों में से कोई एक ही कर्म एक जन्म का आरम्भ करने के लिये उद्यत होगा तो नाश तो किसी एक कर्म का होगा और उत्पत्ति अनेक कर्मों की होगी। फिर तो निरन्तर जो अनन्त धर्माधर्मरूप कर्माशय हैं वे फल प्रदान करने में निरुत्साह हो जायेगें तब बुद्धिमान् पुरुषों को यह निश्चय करना कठिन हो जायेगा कि कौन सा कर्म किस क्रम

से फल देगा। यह निश्चय न होने से कर्मानुष्ठान में किसी की प्रवृत्ति ही नहीं होगी। यह बात किसी को भी अभीष्ट नहीं है।

अब यदि द्वितीय विकल्प के अनुसार यह स्वीकार करें कि एक कर्म अनेक जन्मों का कारण हो सकता है तो यह भी सम्भव नहीं, क्योंकि यदि अनेक संचित तथा आगामी कर्मों में से कोई एक ही कर्म अनेक जन्मों का कारण होगा तो शेष बचे हुए कर्मों को फल देने का अवसर नहीं मिलेगा। अर्थात् एक ही प्राचीन कर्म का फल सदा मिलता रहेगा। तो शेष कर्मों को फल देने का अवसर न मिलने से वे कर्म निष्फल हो जाऐगें। तब तो यह और भी अनिष्ट बात होगी क्योंकि तब कर्मों को विफल जानकर अग्रिम कर्मानुष्ठान में कोई प्रवृत्त नहीं होगा। जब एक कर्म को एक जन्म का कारण मानने में ही अविश्वास का प्रसंग हो रहा है तो एक कर्म को अनेक जन्म का कारण मानने पर तो कर्मों की व्यर्थता को देखकर उनमें और भी अधिक अनाश्वास की प्रसक्ति होगी। जब एक ही प्राचीन कर्म से अनेक जन्म हुआ करेंगे तब तो अन्य कर्म व्यर्थ ही रह जायेंगे। ऐसे में कौन बुद्धिमान् कर्म करना चाहेगा? अतः द्वितीय विकल्प भी स्वीकार्य नहीं है।

तृतीय विकल्प भी स्वीकार्य नहीं किया जा सकता। अर्थात् यदि अनेक कर्म अनेक जन्मों का कारण होगें तो वे अनेक जन्म एक साथ तो होंगे नहीं, क्रम से ही होंगे। क्रम से होने पर फिर वही दोष आ पड़ेगा जो पूर्व विकल्पों में दिखाया जा चुका है। यदि हजारों कर्म एक ही काल में हजारों जन्मों का प्रारम्भ कर सकते होते तब तो अन्य कर्मों का क्षय भोग द्वारा सम्भव होता किन्तु यह तो सम्भव नहीं । एक काल मे एक ही जन्म होगा। ऐसी स्थिति में शेष कर्मों की व्यर्थता का दोष पुनः आ पड़ेगा। तब तो प्रेक्षावान् पुरुषों की प्रवृत्ति कर्मानुष्ठान में नहीं होगी।

पूर्वोक्त तीनों विकल्पों का निराकरण करके अब चतुर्थ विकल्प की समीचीनता का प्रतिपादन भाष्यकार करते हैं। जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त जितने भी धर्माधर्मरूप कर्माशयों का समूह बनता है वह गौण और प्रधानभाव को प्राप्त होकर मृत्युकाल में संघटित होकर मृत्यु का निष्पादन करता है तथा पुनः एक ही जन्म का आरम्भ करता है अनेक जन्मों का नहीं। उस जन्म में उसी कर्म से उसकी आयु का निर्धारण होता है और उसी कर्म से उसको सुख दुःख रूप भोग की प्राप्ति होती है । इस कारण सब कर्म मिलकर एक जन्म का आरम्भ करने से उक्त कर्माशय एकभविक कहलाता है। इसी का नाम एकभविकवाद है।

इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि कर्माशय के तीन ही विपाक हैं- जाति, आयु तथा भोग। कुछ कर्माशय त्रिविपाक होते हैं, कुछ द्विविपाक और कुछ एकविपाक होते हैं। साधारण मनुष्यों के कर्माशय त्रिविपाक होते हैं, अर्थात् उनका फल जाति आयु तथा भोग तीनों रूपों में मिलता है। कुछ कर्माशय द्विविपाक होते हैं जैसे नन्दीश्वर का कर्माशय आयु तथा भोग से ही फल देने वाला था।

नन्दीश्वर की आयु पूर्व कर्म के अनुसार आठ वर्ष ही परिमित थी। किन्तु उसने महादेव की आराधना से ऐसा पुण्य कर्माशय अर्जित किया कि जिसके प्रभाव से उसने दीर्घायु तथा दिव्य भोग प्राप्त किया था । जन्म का लाभ उसने नहीं किया क्योंकि जन्म का लाभ तो उसे पूर्व से ही प्राप्त था।

कुछ दृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय एकविपाक ही होते हैं अर्थात् उनका भोगरूप एक ही फल प्राप्त होता है। जैसे राजा नहुष का पाप कर्माशय केवल भोगरूप फल का ही हेतु था। राजा नहुष ने ऋषि पर पादप्रहार करके ऐसा अत्युग्र अधर्म किया था कि जिसके प्रभाव से उसे तीव्र दुःखरूप भोग प्राप्त हुआ जाति और आयु नहीं। क्योंकि जाति और आयु तो जिस पुण्य से उसे इन्द्र पद प्राप्त हुआ था उसी पुण्य से प्राप्त हो चुकी थी। इस प्रकार उसका कर्माशय एक फल का हेतु होने से एकविपाकारम्भी कहा जाता है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि जो कर्माशय दृष्टजन्मवेदनीय होता है वह कहीं द्विविपाकारम्भी और कहीं एकविपाकारम्भी होता है।

कर्माशय ही एकभविक है वासना नहीं

कर्मसिद्धान्त के प्रसंग में यह बात ध्यान रखने योग्य है कि शुभाशुभ कर्मों से जन्य जो पुण्यापुण्य कर्माशय है वे ही एकभविक हैं। वासनाएं एकभविक नहीं होतीं, अपितु वे अनेकभविक अर्थात् अनेक जन्मों तक स्थायी रहती हैं । एकभविक कर्माशय तो एक जन्म का आरम्भ करके जाति, आयु, भोगरूप फल देकर नष्ट हो जाते हैं किन्तु वासनायें नष्ट नहीं होतीं अपितु वे जन्मों-जन्मों तक चलती रहती हैं।

यह चित्त मछली के जाल के समान अनादि काल से अनेक जन्मों में क्लेश कर्म तथा फल के अनुभव से जन्य वासनाओं के द्वारा चित्रीकृत है। इसी कारण जब प्राणी मनुष्य शरीर के पश्चात् पशुशरीर में जाता है तब पूर्व के किसी पशुशरीर से जो भोग प्राप्त किया था उससे जन्य अनुभव की वासना पशुशरीर में भोग का हेतु बनती है।

यहाँ जिज्ञासा हो सकती है कि कर्माशय और वासना में क्या अन्तर

है? धर्माधर्मरूप कर्माशय से भिन्न वासना तो कुछ होती नहीं? इसके उत्तर मेंभाष्यकार कहते हैं कि जो संस्कार स्मृति के हेतु होते हैं उन्हें वासना कहा जाता है-

'ये संस्कारा: स्मृतिहेतवस्ता वासनास्ताश्चानादिकालीना:।'

-व्यासभाष्य 2/13

वे वासनायें अनादिकालीन हैं। पिछले अनादिकाल के बहुत जन्मों की ये वासनायें निरन्तर प्रवहमान रहती हैं। अत: प्राणी जब मनुष्यशरीर को छोड़कर पशुशरीर में जाता है तो पिछले पशुशरीर में अनुभूत भोगजन्य वासना से वर्तमान पशु आदि शरीर में तदनुसार भोग होता है। जो धर्माधर्मरूप कर्माशय हैं वे स्मृति के हेतु नहीं हैं अत: वे वासना नहीं कहे जाते । एकभविक होने से उस भव के समस्त कर्माशय भोग द्वारा समाप्त हो जाते हैं। वासनायें उनसे भिन्न हैं अत: अनेकभवपर्यन्त विद्यमान रहती हैं।

एकभविक कर्माशय के दो भेद

कर्माशय वासना से भिन्न वस्तु है यह अभी कहा गया। यह जो एकभविक कर्माशय है यह दो प्रकार है- नियतविपाक तथा अनियतविपाक । नियतविपाक कर्माशय उसे कहते हैं जो नियमपूर्वक अवश्य ही फल देता है। तथा जो कर्माशय नियमपूर्वक फल नहीं देता वह अनियतविपाक कहलाता है। कर्माशय का फल भी दो प्रकार का है-दृष्टजन्मवेदनीय और अदृष्टजन्मवेदनीय। इन दोनों में जो दृष्टजन्मवेदनीय नियतविपाक कर्माशय हैं वे ही एकभविक हैं। जो अदृष्टजन्मवेदनीय अनियतविपाक कर्माशय हैं वे एकभविक नहीं होते।

जो दृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय है वह तो नियतविपाक ही होता है किन्तु जो अदृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय है वह नियतविपाक भी होता है और अनियतविपाक भी होता है। इनमें जो दृष्टजन्मवेदनीय नियतविपाक कर्माशय है वही एकभविक होता है। यह भाव है।

अनियतविपाक कर्माशय की तीन गतियाँ

जिनका विपाक नियमत: नहीं होता ऐसे अदृष्टजन्मवेदनीय कर्माशयों की तीन गतियाँ हो सकती हैं। या तो ऐसे कर्म फल दिये बिना ही नष्ट हो जाते हैं या किसी प्रधान कर्म में मिलकर फल देते हैं या फिर नियमपूर्वक

फल देने वाले प्रधान कर्म द्वारा अभिभूत होकर चिरकाल तक ऐसे ही अवस्थित रहते हैं। इन तीनों गतियों की संक्षिप्त व्याख्या करना उचित होगा।

प्रथम गति–

कृतस्य अविपक्वस्य विनाशः।

कुछ साधारण कर्माशयों का फल दिये बिना ही विनाश हो जाता है। जैसे शुक्ल कर्मों का उदय होने पर अशुभ कर्मों का इसी जन्म में नाश हो जाता है। जो पुरुष तप तथा वेदाध्ययन आदि शुभकर्मों का अनुष्ठान करते हैं उनके पापों का नाश फल दिये बिना ही हो जाता है। शुक्ल कर्मों से कृष्ण और शुक्लकृष्ण दोनों प्रकार के दुःखहेतुक कर्मों का नाश हो जाता है। या यूँ समझना चाहिये कि शुक्लकर्मों को करने में जो कष्ट सहन किया जाता है उन कष्टों के द्वारा उन पापों का क्षय हो जाता है।

द्वितीय गति–

प्रधानकर्मण्यावापगमनम्।

कुछ अनियतविपाक कर्माशय प्रधान कर्म में मिलकर फल देते हैं। जैसे ज्योतिष्टोम एक प्रधान कर्म है। उसमें पशु हिसांदि अप्रधान कर्म भी किये जाते हैं। वे पशुहिसांदि कर्म पृथक् से दुःखरूप फल नहीं देते अपितु जब प्रधान कर्म फल देता है तब वे भी साथ-साथ ही अनर्थरूप फल देतें हैं। पशु हिंसा यज्ञ का उपकारक भी है क्योंकि उसके बिना यज्ञ पूर्ण नहीं होता। किन्तु **'मा हिंस्यात् सर्वाभूतानि'** इस श्रुति के अनुसार पशुहिंसा निषिद्ध कर्म है। किन्तु यह अप्रधान कर्म है। प्रधान कर्म का उपकार करना ही इसका प्रयोजन है। जब तक प्रधान कर्म फल देने के लिये बीज रूप में अवस्थित रहता है तब तक यह अप्रधानकर्म अपना अनर्थरूप फल देने के लिये बीजरूप में अवस्थित रहता है। इस प्रकार अदृष्टजन्मवेदनीय पशुहिंसादिजन्य अप्रधानकर्म का ज्योतिष्टोमादि प्रधान कर्म में आवापगमन है। यही उक्त कर्माशय की द्वितीय गति है।

तृतीय गति–

कुछ अनियतविपाक कर्माशय बलवान् कर्म से तिरस्कृत होकर फल दिये बिना ही बहुत काल तक बीज रूप से चित्त में अवस्थित रहते हैं। यह तृतीय गति है।

भाव यह है कि जब बलवान् पुण्यकर्मों का भोग निरन्तर होता रहता है तो दुर्बल पाप कर्मों को फल देने का अवसर ही नहीं मिलता। ऐसे पाप कर्म बीजरूप से बहुत काल तक पड़े रहते हैं। इसी प्रकार जब बलवान् पापकर्मों का निरन्तर फलभोग होता रहता है तो दुर्बल पुण्यकर्मों को फल देने का अवकाश नहीं मिलता। वे पुण्य कर्म भी चिरकालपर्यन्त फल दिये बिना ही स्थित रहते हैं। यही चिरकाल तक स्थित रहना अनियतविपाक कर्माशियों की तृतीया गति है।

यह चिरकाल तक अवस्थान तभी तक होता है जब तक बलवान् कर्मों का फल न भोगा गया हो या जब तक दूसरा कोई बलवान् अभिव्यंजक निमित्त कर्म उसे फलाभिमुख नहीं करता। जब निमित्त मिल जाता है तो वे भी अभिव्यक्त होकर फल देने लगते हैं। किन्तु ऐसे कर्मों के देश काल और निमित्त का निश्चय नहीं हो पाता। विद्वान् पुरुष भी यह नहीं जान सकते कि उनका देश काल और निमित्त कब उपस्थित होगा । इसलिये कर्मगति को बड़ी विचित्र और दुर्विज्ञेय कहा गया है।

****

तृतीय अध्याय

क्रियायोग की अवधारणा

महर्षि पतञ्जलि ने समाहित चित्त वाले उत्तम अधिकारियों के लिये अभ्यास और वैराग्यरूप राजयोग का उपदेश किया था। उत्तम अधिकारी वे होते हैं जो पूर्व जन्मों में जप, तप, समाधि आदि के द्वारा क्लेशों को दुर्बल कर चुके हें, जिनकी योगसाधना परिपूर्णता को प्राप्त नहीं हुई है, जो साधना करते-करते मृत्यु को प्राप्त हुए हैं तथा अधिक मात्रा में जिनका चित्त एकाग्र हो चुका है। ऐसे उत्तम योगाधिकारियों को प्रारम्भ से योगाभ्यास करने की आवश्यकता नहीं होती। वे तो पूर्वकृत अभ्यास को ही अभ्यास और वैराग्य द्वारा पुष्ट करते हुए सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात योग को प्राप्त करते हैं। क्रियायोग के अभ्यास की आवश्यकता उन्हें नहीं होती। योगाभ्यास का यह वैशिष्ट्य है कि एक योगसाधक जितनी सीमा तक योगाभ्यास कर चुका है उसका वह अभ्यास अनेक जन्मों का व्यवधान होने पर भी नष्ट नहीं होता। जहाँ तक अभ्यास करके वह छोड़ चुका है आगामी जन्मों में वहीं से उसकी साधना प्रारम्भ होती है। यही बात भगवान् अर्जुन से कह रहे हैं-

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥

-गीता 2/40

अर्थात् इस योगमार्ग में अभिक्रम अर्थात् आरम्भ का नाश नहीं होता। जितना आरम्भ कर चुके हैं वह अभ्यास चित्त में आरूढ हो चुका है। चिकित्सादि के समान इसमें व्यवधान आने पर भी कृत अभ्यास व्यर्थ नहीं जाता अर्थात् यदि रोग को दूर करने के लिये औषधि का सेवन निरन्तर किया जाता है तो चिकित्सा सफल होती है। यदि मध्य में ही औषधिसेवन छोड़ दिया जाता है तो पूर्व चिकित्सा व्यर्थ हो जाती है। योगमार्ग में ऐसी बात नहीं है। योग का थोड़ा-सा भी किया गया अभ्यास जन्म-मरण के भय से रक्षा करने में समर्थ होता है।

जिनका चित्त समाहित नहीं होता वे साधक अभ्यास और वैराग्य का

सेवन नहीं कर सकते। जिनमें योगसाधना की दृढ इच्छा है किन्तु जिनका चित्त चंचल है उन्हें कुछ कठोर साधना की आवश्यकता है। ऐसे अधिकारी मध्यम अधिकारी कहलाते हैं। उनके लिये क्रियायोग की आवश्यता होती है। यह क्रियायोग क्या है? इसके उत्तर में सूत्रकार कहते हैं कि तप, स्वाध्याय तथा ईश्वरप्रणिधान ये तीन उपाय क्रियायोग कहलाते हैं-

तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः। -2/

यद्यपि तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान क्रियायोग नहीं हैं अपितु क्रियायोग के साधन हैं। किन्तु साधन और साध्य अथवा कार्यकारण की अभेदविवक्षा में कार्य को भी कारण कह दिया जाता है। यहाँ भी तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान को क्रियायोग कह दिया गया है। इसमे क्रिया की अधिकता है इसलिये इसे क्रियायोग कहा जाता है। तप शारीरिक क्रिया है, स्वाध्याय वाचिक क्रिया है तथा ईश्वरप्रणिधाान मानसिक क्रिया है। चित्त की स्थिरता और शुद्धि के लिए चित्त को क्रियाशील रखना अत्यन्त आवश्यक है।

योग के अभिलाषी साधक को युञ्जमान कहा जाता है। विष्णुपुराण में कहा गया है -

योगयुक् प्रथमं योगी युञ्जमानोऽभिधीयते।

यहाँ युञ्जमान शब्द में जो शानच् प्रत्यय है वह क्रिया की निरन्तरता को कह रहा है। क्रियाशील रहने के पश्चात् ही योगी क्रिया से निवृत्त हो सकता है। भगवान् ने गीता में क्रियायोग को ही कर्मयोग की संज्ञा दी है। वे कहते हैं जो मुनि योग पर आरूढ होने की इच्छा रखता है उसके लिये कर्म अर्थात् क्रियायोग ही प्रथम उपाय है-

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥

-गीता 6/3

जब योगी क्रियायोग की साधना करते-करते अच्छी प्रकार योग पर आरुढ हो जाता है तब वह उत्तम अधिकारी बन जाता है। तब उसके लिये कर्म की नहीं अपितु शम की अथार्त् अभ्यासवैराग्यरूप कर्मनिवृत्ति की आवश्यकता होती है। योगारुरुक्षु के लिये क्रियायोग अत्यन्त उपकारक है।

यहाँ यह जिज्ञासा हो सकती है कि तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान को ही क्रियायोग क्यों कहा गया? यम, नियम, आसन, प्राणायाम आदि अन्य भी तो उपाय हैं जिनमें क्रिया होती है, उन्हें क्रियायोग क्यों नहीं कहा गया? इसका उत्तर यह है कि अन्य उपायों की अपेक्षा तप, स्वाध्याय तथा ईश्वरप्रणिधान

सुकर है तथा अत्यन्त उपयोगी है। मध्यम अधिकारी के लिये यमों का सेवन करना सरल नहीं है। उत्तम कोटि के साधक उसके अधिकारी हुआ करते हैं। शौच, सन्तोष, आसन तथा प्राणायाम मध्यम अधिकारी के लिये अधिक उपयोगी नहीं। जो तृतीय श्रेणी के साधक हैं उन्हीं के लिये चित्त को स्थिर करने के लिये इनकी अधिक उपयोगिता है। हठयोग की क्रियायें आसन तथा प्राणायाम नितान्त चंचल चित्त वाले योगसाधकों के लिये अधिक उपयोगी हैं। उत्तम तथा मध्यम कोटि के साधक इनमें अधिक आदर नहीं रखते। मध्यम कोटि का साधक तप, स्वाध्याय तथा ईश्वरप्रणिधान के द्वारा ही असम्प्रज्ञात समाधि का लाभ कर सकता है। इसलिये समस्त अन्य उपायों में से सूत्रकार ने इन तीनों का ही चयन किया है जिसे उन्होंने क्रियायोग की संज्ञा दी है। क्रिया योग एक समग्र योग है।

क्रियायोग की यह भी विशेषता है कि इसमें शारीरिक, वाचिक तथा मानसिक क्रियाएं किसी अन्य साधकों की क्रियाओं का व्याघात नहीं करतीं। शान्त एकान्त स्थान में अज्ञातवास करके भी साधक इनका अनुष्ठान कर सकता है। दूसरी बात यह है कि क्रियायोग की क्रियाएं बन्धन में डालने वाली नहीं होतीं अपितु संसारबन्धन को शिथिल करने वाली होती हैं। यद्यपि क्रियाएं चूँकि आसक्ति और फलाशा को त्याग कर अनुष्ठित होती हैं इसलिये ये जन्ममरणरूप बन्धन का छेदन करती हैं। यहाँ पर तप, स्वाध्याय तथा ईश्वरप्रणिधान का संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत किया जाता है।

तप-

क्षुधा-पिपासा, शीत-उष्ण, सम्पत्ति-विपत्ति, सुख-दुःख तथा मान-अपमान आदि द्वन्द्वों को समानभाव से सहते हुए एकरूप रहने का अभ्यास करना तप कहलाता है। तप योगसाधक के लिये सर्वाधिक उपादेय है। भाष्यकार व्यासदेव कहते हैं-

नातपस्विनो योगः सिध्यति।

-व्यासभाष्य 2/1

अर्थात् अतपस्वी को योग सिद्ध नहीं हो सकता। दुर्बल पुरुष चित्तवृत्तियों का निरोध करने में समर्थ नहीं हो सकता। उसके लिये तो समत्व को प्राप्त चित्त ही समर्थ हो सकता है। प्रायः मनुष्य सम्पत्ति में हर्षित होता है और विपत्ति में म्लानता का अनुभव करता है। सम्मान से प्रसन्न होता है और अपमान से उद्विग्न होता है। शीत-उष्ण की अनुकूलता से प्रसन्न होता है तथा

प्रतिकूलता से दु:खी होता है। इसी प्रकार स्वादिष्ट भोजन प्रिय लगता है, नीरस भोजन अप्रिय प्रतीत होता है। इसी अनुकूलता और प्रतिकूलता से उदासीन होकर जो सदा समरस रहता है वही तपस्वी कहलाता है। ऐसा ही तपस्वी दुर्निग्रह मन को वश में कर सकता है।

तप के भेद

यह तप गुणभेद से तीन प्रकार का है- सात्त्विक तप, राजस तप और तामस तप।

1 सात्त्विक तप

श्रद्धापूर्वक अर्थात् आस्तिकबुद्धि के साथ फल की आकांक्षा से रहित पुरुषों के द्वारा जो तप किया जाता है वह सात्त्विक तप कहलाता है-

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।
अफलाकांक्षाभिर्युक्तैः सात्त्विकं तप उच्यते।।

गीता 17/17

2 राजस तप

जब मनुष्य सत्कार और सम्मान प्राप्त करने के लिये तथा दूसरों से पूजित और प्रतिष्ठित होने के लिये दम्भपूर्वक तप करता है तो वह तप राजस कहलाता है।

यह पुरुष बड़ा श्रेष्ठ है, तपस्वी है, इस प्रकार की प्रशंसा सत्कार कहलाती है। कुछ दम्भी लोग इस सत्कार की प्राप्ति के लिये भी तप करते हैं। आते हुए को देखकर खड़े हो जाना, प्रणाम करना सम्मान कहलाता हैं तथा पैर-धोना, अर्चना करना, भोजन कराना पूजा कहलाती है। सम्मान और पूजा के लिये भी लोग तप करते हैं। यह तप रजोगुण से क्रियमाण होने के कारण राजस कहलाता है। जैसा कि भगवान् ने कहा है -

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम्।।

गीता 17/13

यह राजस तप बड़ा चंचल और अस्थायी होता है क्योंकि पाखण्ड बहुत दिनों तक छुपा नहीं रहता। जब तक लोग ऐसे तपस्वियों के पाखण्ड को नहीं जानते तभी तक उनका सत्कार सम्मान और पूजा करते हैं । जब इनकी वास्तविकता प्रकट होती है तब इनका सत्कार और सम्मान कपूर के समान उड़ जाता है। ऐसे पाखण्डी तपस्वियों की इन दिनों कुछ अधिक वृद्धि हो गयी है। जनता के समक्ष ये पाखण्डी तपस्वी ऐसे कपटवेष में उपस्थित होते हैं कि

इनका राजसभाव शीघ्र प्रकट नहीं होता। जब इनके मन में छिपी सम्मान और सत्कार प्राप्ति की इच्छा लोगों पर प्रकट होती है तो इनका तप उसी दिन विनष्ट हो जाता है। इसलिये भगवान् ने इसे 'राजसं चलमध्रुवम्' कहा है।

3 तामस तप

मूढ़ग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्।।

गीता 17/19

जो तप अपने शरीर को पीडा पहुँचाकर अथवा दूसरों की हानि करने के लिये मूढतापूर्वक किया जाता है वह तप तामस कहलाता है।

तामस तप सबसे भयानक है क्योंकि यह क्रोधपूर्वक किया जाता है। यद्यपि इसमें संवेग की तीव्रता अधिक होती है और इसी कारण इसका प्रभाव सद्यः होता है। किन्तु यह तप योग में सर्वथा अनुपयोगी है।

तामस की तुलना में राजस तप में संवेग अल्प होता है। तथा सात्त्विक तप में सबसे अल्प संवेग होता है। किन्तु सबसे स्थायी सात्त्विक तप ही होता है तथा योगसाधना के लिये सर्वाधिक उपयोगी यह सात्त्विक तप ही है। क्योंकि यह फलाकांक्षा को छोडकर किया जाता है तथा वृत्तिनिरोध द्वारा कैवल्य का मार्ग प्रशस्त करता है।

तप के पुनः तीन भेद -Three kinds of penance

देह, वाणी और मन की दृष्टि से तप के पुनः तीन भेद हो जाते हैं - शारीरिक तप, वाचक तप तथा मानसिक तप ।

1 शारीरिक तप -Bodily penance

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते।।

गीता 17/14

देव, ब्राह्मण, गुरु और विद्वान् पुरुषों की पूजा करना, शारीरिक पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा का पालन करना, यह शारीरिक तप कहलाता है।

पीछे द्वन्द्वों को सहने को तप कहा गया है वह वस्तुतः ब्रह्मचर्य और अहिंसा का ही अंग है। द्वन्द्वों को सहे बिना ब्रह्मचर्य का पालन नहीं किया जा सकता । इसी प्रकार द्वन्द्वों को सहकर ही अहिंसा की सिद्धि होती है।

2 वाचिक तप-Austerity of speech

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यम् प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते।।

गीता 17/15

किसी भी प्राणी के मन में जो उद्वेग उत्पन्न नहीं करते तथा सत्य, प्रिय और हितकारी जो वचन हैं ऐसे वचनों को बोलना एवं स्वाध्याय का अभ्यास करना वाणी का तप है।

किसी व्यक्ति के कठोर वचनों को सुनकर उसकी प्रतिक्रिया में उद्वेगकारक वचन बोलने की स्वाभाविक इच्छा सभी की होती है, किन्तु कठोर वचनों को सुनकर भी उद्विग्न करने वाले वचन न बोलना वाणी का तप है।

सत्य बोलना भी तप है किन्तु जो सत्य, अप्रिय और अहितकर हो ऐसा सत्य नहीं बोलना चाहिये। यदि प्रिय सत्य नहीं बोल सकते तो मौन रहना चाहिये। मौन धारण करना भी वाचिक तप है। प्रणवजपरूप स्वाध्याय भी वाणी का तप है।

3 मानस तप – Austerity of mind

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते।।

गीता 17/16

मन का प्रसाद अर्थात् मन की स्वच्छता का सम्पादन, सौम्यता अर्थात् मुखादि को प्रसन्न करने वाली अन्तःकरण की शुद्धवृत्ति, मौन अर्थात् अन्तःकरण का संयम, मन का निग्रह, तथा भावशुद्धि अर्थात् दूसरों के साथ व्यवहार करने में छलकपट से रहित होना, यह मानस तप कहा जाता है।

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि वाणीविषयक मन के संयम का नाम मौन है तथा सामान्यभाव से संयम करने कर नाम आत्मनिग्रह है।

उग्र तप योग में वर्जितं है

यह तीनों प्रकार का तप उग्र और अनुग्र के भेद से दो प्रकार का है।शीघ्र फलप्राप्ति के लिये शरीर और इन्द्रियों को सुखाने वाला कृच्छ्र चान्द्रायण आदि व्रत उग्र कहलाता है तथा इन्द्रियनिग्रह के लिए किया जाने वाला सात्त्विक तप अनुग्र कहा जाता है। कृच्छ्र चान्द्रायणादि उग्र तप राजस और तामस होता है। ऐसा तप समाधि का विरोधी होने से हेय है। राजस और तामस

से रहित शुद्ध सात्त्विक हित-मित-भोजन तथा शीतोष्णादि द्वन्द्वों को सहन करते हुए इन्द्रियनिग्रह करना अनुग्र तप है। यही तप समाधि में उपादेय है। श्रुति कहती है-

तमेवं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति
यज्ञेन दानेन तपसा ऽनाशकेन

-बृहदाण्यक 4/4/22

अर्थात् ब्रह्म को जानने के इच्छुक जन उस परमतत्त्व को यज्ञ, दान और अनाशक तप के द्वारा जानना चाहते हैं।

यहाँ तप के साथ जो अनाशक विशेषण आया है उसका यही भाव है कि जो तप शरीर का शोषण नहीं करता वही तप ब्रह्मज्ञान में उपयोगी है।

यद्यपि राजस और तामस तप में सात्त्विक तप की अपेक्षा संवेग की तीव्रता अधिक होती है अतः यह शीघ्र फलप्रद भी होता है किन्तु ऐसा उग्र तप आसुर तप कहलाता है। वाञ्छित भौतिक वस्तु की प्राप्ति इस तप से शीघ्र होती है किन्तु यह तप समाधि का विरोधी है। इसलिये भगवान् अर्जुन को सावधान कर रहे हैं कि तू आसुर तप करने वालों का संग त्याग दे।

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः॥
कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मां चैवान्तः शरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान्॥

गीता 17/5-6

अर्थात् जो लोग दम्भ और अहंकार तथा काम, राग और बल से गर्वित होकर उग्र तप करते हुए शरीर का शोषण करते हैं वे देह में स्थित भूतसमुदाय को तो पीडित करते ही हैं वे मुझे भी कष्ट देते हैं क्योंकि उनके देह में मैं भी तो स्थित हूँ। ऐसा उग्र तप शास्त्रविरुद्ध होने से त्याज्य है। इसी बात की ओर इंगित करते हुए भाष्यकार व्यासदेव कह रहे हैं-

तच्च चित्तप्रसादनमबाधमानमनेनासेव्यमिति मन्यते।

व्यासभाष्य 2/1

अर्थात् जो तप चित्त की प्रसन्नता का हेतु हो एवं शरीर तथा इन्द्रियादि को पीडित न करता हो वह तप इस योगजिज्ञासु के द्वारा सेवनीय है।

स्वाध्याय

क्रियायोग का दूसरा साधन स्वाध्याय है। स्वाध्याय का अर्थ है- परमात्मा के पवित्र नामों का जप तथा मोक्षोपयोगी शास्त्रों का अध्ययन -

स्वाध्यायः प्रणवादिपवित्राणां जपो मोक्षशास्त्राध्ययनं वा।

-व्यासभाष्य 2/1

ओम् परमात्मा का सबसे पवित्र नाम है। यह सकल शास्त्रों का और त्रैलोक्य का साररूप है। ओंकार की तीन मात्रायें अकार, उकार और मकार क्रमशः जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं के नामान्तर हैं। ओंकार का नित्य जप लौकिक अभ्युदय तथा आध्यात्मिक कैवल्य को प्रदान करता है। ओंकार का वैशिष्ट्य आचार्य गौडपाद बता रहे हैं कि अकार मात्रा साधक को विश्वरूप जाग्रत्लोक का स्वामी बना देती है। उकार मात्रा ज्ञान का उत्कर्ष प्रदान करती है जिसे तैजस कहा जाता है तथा मकार मात्रा स्वात्मानन्दस्वरूप सुषुप्ति का लाभ कराती है। किन्तु वस्तुतः परमतत्त्व तो अमात्र है। अमात्र को जानने के लिये ओंकार का जप अनिवार्य रूप से साधक को करना चाहिये।

अकारो नयते विश्वमुकारश्चापि तैजसम्।
मकारश्च तथा प्राज्ञं नामात्रे विद्यते गतिः।।

माण्डुक्य कारिका 2/1

सर्वप्रथम शब्दपूर्वक ओंकार का जप करे। पुनः निःशब्द होकर केवल ओष्ठकम्पन के साथ जप करे तथा जिस समय निरन्तर अभ्यास से जप दृढ हो जाये तब शब्दरहित होकर होठों को भी न हिलाते हुए केवल आभ्यन्तर वाणी को सक्रिय करके ओंकार का जप करना चाहिये। यही स्वाध्याय है।

गीता, उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र, विष्णुसहस्रनाम, महाभारत, रामायण आदि ग्रन्थों का निरन्तर अध्ययन करना भी स्वाध्याय कहलाता है। ज्यों-ज्यों साधक शास्त्रों के निकट जाता है त्यों-त्यों स्वाध्यायकर्ता के ज्ञान-विज्ञान में वृद्धि होती है। उसकी बहिर्मुखता नष्ट होती है तथा अन्तश्चक्षु उद्घाटित होती है। स्वाध्याय को क्रियायोग इसलिये कहा जाता है क्योंकि इसमें वाणी सक्रिय रहती है।

ईश्वरप्रणिधान

ईश्वरप्रणिधान क्रियायोग का तृतीय साधन है। प्रथम पाद में - **'ईश्वरप्रणिधानाद् वा'** इस सूत्र में ईश्वरप्रणिधान का जो अर्थ भाष्यकार ने किया था उससे कुछ विलक्षण अर्थ इस क्रियायोग के ईश्वरप्रणिधान का है। वहाँ ईश्वरप्रणिधान भक्तिविशेष का द्योतक था। यहाँ इसके दो अर्थ भाष्यकार

ने किये हैं। प्रथम अर्थ है समस्त कर्मों का परमगुरु भगवान् में समर्पण और दूसरा अर्थ है फल की इच्छा का परित्याग करके कर्म करना। जैसा कि भगवान् अर्जुन को कह रहे हैं-

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्।।

-गीता 9/27

अर्थात् हे अर्जुन! तू जो भी करता है, जो भी भोग करता है, जो भी होम करता है, दान करता है अथवा जो भी तप करता है वह सब तू मेरे लिये अर्पण कर दे।

यह ईश्वरार्पणरूप ईश्वरप्रणिधान है। ऐसा करने से भगवत्प्रसाद शीघ्र प्राप्त होता है। इस अर्पणबुद्धि से भगवान् अपने भक्त के समस्त शुभाशुभ कर्मों को अपना कर्म मान लेते हैं तथा भक्त के योगक्षेम का दायित्व स्वयं वहन करते हैं।

फल की इच्छा न करके जो कर्म किया जाता है वह भी ईश्वरप्रणिधान है। बस केवल कर्त्तव्यबुद्धि से कर्म करना ही भक्त का अधिकार है। जो भी फल मिले उसे ईश्वर का जाने। भगवान् स्वयं कह रहे हैं-

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भू मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि।।

गीता 2/41

इस ईश्वरप्रणिधान में मानसिक क्रिया चलती रहती है। केवल मन से यह चिन्तन करना पड़ता है कि "मैं जो कुछ भी कर रहा हूँ वह तुम्हारा ही आदेश है। अच्छा या बुरा जैसा भी है सब आपको समर्पित है।" ऐसी मानसिक क्रिया करने से ही यह ईश्वरप्रणिधान क्रियायोग का अंग बनता है। यद्यपि यह समर्पणरूप ईश्वरप्रणिधान भी एक प्रकार की भक्ति ही है किन्तु पूर्वोक्त भक्तिविशेष क्रियायोग का अंग नहीं है अपितु स्वतन्त्ररूप से एक समग्र योग हैं जिसमें समर्पण के साथ अर्चना, वन्दन, स्मरणादि सभी कुछ कर्त्तव्य होता है। वह भक्तिविशेषरूप ईश्वरप्रणिधान अकेला ही साधक को समाधि की उच्चतम अवस्था तक पहुँचा सकता है। उस ईश्वरप्रणिधान में साधक समाधि की भी इच्छा नहीं करता, यहाँ तक कि कैवल्य की भी अभिलाषा नहीं करता। उस ईश्वरप्रणिधान में तो भक्त को बस एक भगवान् ही प्रिय होता है। भक्त का अपना स्वत्व विगलित हो जाता है। जैसा कि भागवत में कहा गया है-

न नाकपृष्ठं न च सार्वभौमं
न पारमेष्ठ्यं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
वाञ्छन्ति यत्पादरजः प्रपन्ना।।

–भागवतपुराण 10/16/37

अर्थात् भगवान् की चरणरज को प्राप्त हुए भक्तजन न स्वर्गलोक की कामना करते हैं और न ही सार्वभौम साम्राज्य चाहते हैं। न परमेष्ठी का पद चाहते हैं और न ही पृथ्वी का आधिपत्य उन्हें अभीष्ट है। योगसिद्धि और मोक्ष भी उन्हें प्रिय नहीं होता।

यह पूर्वोक्त ईश्वरप्रणिधान का अर्थ है। क्रियायोग के ईश्वरप्रणिधान का यही वैशिष्ट्य है। इस प्रकार तप, स्वाध्याय तथा ईश्वरप्रणिधान ये तीन क्रियायोग के साधन हैं।

क्रियायोग का उद्देश्य

महर्षि पतञ्जलि ने क्रियायोग के दो प्रयोजन बताये हैं। प्रथम प्रयोजन है समाधि की उत्पत्ति और दूसरा प्रयोजन है क्लेशों का तनूकरण।

समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च। योगसूत्र 2/2

अर्थात् तप,स्वाध्याय तथा ईश्वरप्रणिधानरूप क्रियायोग का अच्छी प्रकार सेवन करने से समाधि की उत्पत्ति साधक के चित्त में होती है। साधक समाधि मार्ग पर अग्रसर हो जाता है।

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि क्रियायोग से समाधि की केवल उत्पत्ति होती है, उसकी सिद्धि नहीं होती, सिद्धि तो अभ्यास और वैराग्य से ही होगी। क्रियायोग से समाधि का अंकुरण मात्र होता है जैसे बीज से पौधे का अंकुरण होता है वह वृक्ष नहीं बन जाता। पौधे से वृक्ष बनने के लिये उसे निरन्तर जलसेचन, खाद आदि की आवश्यकता होती है। वैसे ही क्रियायोग समाधि को उत्पन्न करता है। उसको पूर्णरूप से सिद्ध नहीं करता। निरन्तर अभ्यास और वैराग्य का सेवन ही समाधि को पूर्णरूप से सिद्ध करता है।

क्लेशों को दुर्बल करना क्रियायोग का दूसरा प्रयोजन है। यहाँ भी ऐसा ही समझना चाहिये कि क्रियायोग से क्लेशों का सर्वथा नाश नहीं होता अपितु बलवान् क्लेश दुर्बल हो जाते हैं। उनको सर्वथा दग्ध बीज तो प्रसंख्यानरूप अग्नि करती है। दुर्बल क्लेश तो पुनः सिर उठा सकते हैं किन्तु दग्धबीज होने पर पुनः उनकी उत्पत्ति सम्भव नहीं । जैसे भाड़ में

बीजों को भून देने पर पुनः उनसे अंकुर की उत्पत्ति नहीं होती। असम्प्रज्ञातसमाधि से उत्पन्न हुई सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिरूप प्रसंख्यान अग्नि ही क्लेशों को दग्ध बीज बनाती है। अभ्यास और वैराग्य का निरन्तर सेवन करने से वह विवेकख्यातिरूप प्रसंख्यानाग्नि भी शनैःशनैः क्लेशों का नाश करके स्वयं भी उसी प्रकार शान्त हो जाती है जैसे ईंधन को जलाकर अग्नि बिना बुझाये स्वयं ही शान्त हो जाती है।

इस प्रकार समाधि की उत्पत्ति और क्लेशों का दुर्बलीकरण, यही दो प्रयोजन क्रियायोग के हैं।

क्लेश-निरूपण

क्रियायोग से परिचित होने के पश्चात् यह जिज्ञासा होती है कि वे कौन से क्लेश हैं जिनका तनूकरण क्रियायोग से होता है? इसके उत्तर में सूत्रकार कहते हैं कि वे क्लेश पाँच हैं- अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ।

अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पंचक्लेशाः।

योगसूत्र 2/3

ये पाँच प्रकार के क्लेश वस्तुतः पाँच प्रकार के विपर्यय अर्थात् मिथ्याज्ञान हैं। यद्यपि इन पाँचों क्लेशों में अविद्या ही एक मिथ्याज्ञान है किन्तु अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश इन चारों क्लेशों का मूल कारण भी अविद्या ही है अतः पाँचों क्लेश अविद्या रूप ही हैं। तभी तो सूत्रकार कह रहे हैं- 'अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषाम्' अस्मितादि उत्तर क्लेशों का क्षेत्र अर्थात् उत्पत्तिस्थान अविद्या ही है। यह बात पाँचों क्लेशों का स्वरूप जानकर स्वतः स्पष्ट हो जायेगी।

जब ये क्लेश उदार अवस्था को प्राप्त होते हैं अर्थात् जब इनका पूर्ण विकास होता है तो ये सत्त्वादि गुणों के उत्पादनरूप अधिकार को दृढ करते हैं, गुणवैषम्यरूप परिणाम द्वारा प्रकृति महत्तत्त्व अहंकार तन्मात्रादि परम्परा का निष्पादन करते हैं तथा जाति, आयु तथा भोग का हेतु बनते हैं। इस प्रकार समस्त अनर्थपरम्परा का कारण ये क्लेश ही हैं अतः योगसाधन के द्वारा हेय हैं।

अविद्या-(Ignorance)

विपरीत ज्ञान को अविद्या कहते हैं। वस्तु जैसी है उससे उलटा समझना, यही विपरीत ज्ञान है। उदाहरण के लिये अनित्य वस्तु को नित्य समझना, अपवित्र को पवित्र समझना, दु:ख को सुख समझना तथा अनात्म पदार्थों को आत्मरूप से ग्रहण करना, इसी का नाम अविद्या है।

अनित्य में नित्यबुद्धि

जैसे पृथ्वी अन्तरिक्ष, द्युलोक, स्वर्गादि लोक सब अनित्य हैं, नाशवान् हैं। एक दिन ये सभी काल के गाल में समा जायेंगे। इनको नित्य अर्थात् अनश्वर समझ लेना यह अविद्या है।

अपवित्र में पवित्रबुद्धि

मनुष्य का शरीर सबसे अधिक अपवित्र वस्तु है। उसे पवित्र समझना अविद्या है। यूँ तो प्रत्येक प्राणी का शरीर अपवित्र है किन्तु मानवदेह से अधिक कोई शरीर अपवित्र नहीं । इसकी अपवित्रता में भाष्यकार ने छः कारण बताये हैं-

1 **स्थान**

यह शरीर मलमूत्रादि के दुर्गन्ध से युक्त माता के उदर में रहता है। इसलिये अपवित्र है।

2 **बीज**

माता और पिता का रज और वीर्य ही इसका बीज है। यह बहुत अपवित्र है। अपवित्र बीज से उत्पन्न होने के कारण यह शरीर अपवित्र है किन्तु फिर भी इस शरीर को पवित्र समझ कर अविद्यावान् पुरुष इससे मोह करते हैं।

3 **उपष्टम्भ**

खाये हुए और पिये हुए अन्न जल के परिपाक से जन्य रस रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और वीर्य ये सात धातु इस शरीर के उपष्टम्भ अर्थात् आश्रय हैं। ये आश्रय अपवित्र हैं। अतः शरीर अपवित्र है।

4 **निःस्यन्द**

मल, मूत्र, स्वेद आदि अत्यन्त अपवित्र वस्तुओं का इससे स्राव होता है। अतः मानवदेह अपवित्र माना गया है।

5 **निधन**

कितनी ही रक्षा करने पर इसकी मृत्यु अवश्य होती है। मृत देह छू लेने पर स्नान करना पड़ता है। अतः इसे अपवित्र माना गया है।

6 **शौच का आधान**

मानवदेह इतना अपवित्र है कि प्रतिदिन और प्रतिक्षण इसकी सफाई करनी पड़ती है। जैसे एक कामिनी स्त्री अपने शरीर की अगंराग आदि के द्वारा सुगन्धिता की कल्पना करती है वैसे ही प्रत्येक मनुष्य भी स्नान, चन्दनानुलेपन, दन्तधावन आदि के द्वारा प्रतिदिन इसे स्वच्छ रखने का प्रयास करता है। यदि एक दिन भी इसकी सफाई न करे तो इससे दुर्गन्ध उठने लगे।

इन उपर्युक्त छः कारणों से शरीर अत्यन्त अपवित्र वस्तु है। इसे पवित्र समझना और पवित्र समझ कर इससे मोह करना अविद्या है। अपवित्र होते हुए भी कैवल्य का साधन यह देह ही है। इस देह से ही योगसाधना द्वारा कैवल्य की प्राप्ति की जाती है। इस लिये इसकी रक्षा की हाती है। किन्तु इसकी अपवित्रता में किसी की विप्रतिपत्ति नहीं। फिर भी जरा अविद्या का प्रभाव देखिये कि कामी पुरुष अपवित्र कामिनी के देह को क्या समझ लेता है। वह समझता है यह कामिनी कन्या मानो साक्षात् चन्द्रमा की नयी कला ही है, मानो ब्रह्मा जी ने अपने हाथों से मधु और अमृत के अवयवों से इसे बनाया है। मानो चन्द्रमण्डल से ही निकल कर चली आ रही है। नीलकमल के पत्तों के समान इसकी नीली आँखें है मानो अपने हावभावों से जीवलोक के मनुष्यों को यह सांत्वना दे रही है कि तुम लोग डरो नहीं, मैं तुमको सुखी रखूँगी। इस प्रकार अविद्या के प्रभाव से लोगों ने कामिनी के दुर्गन्धियुक्त शरीर में कैसी कल्पना कर डाली। यही है अपवित्र में पवित्र बुद्धिरूप अविद्या।

दुःख में सुखबुद्धि

संसार के समस्त सुख वास्तव में दुःख ही हैं। विषमिश्रित मधु के समान ये परिणाम में दुःख ही प्रदान करते हैं, फिर भी लोग इसे सुख कहते हैं। यही है अविद्या। संसार में सुख तो कुछ है ही नहीं। जिसे लोग सुख समझते हैं वह सुखाभास है। जैसा आगे सूत्रकार स्वयं कहेंगे कि परिणाम ताप और संस्कारों के कारण विवेकी पुरुष के लिये संसार में सब कुछ दुःख ही है। अविवेकी पुरुष ही संसार में सुख देखते हैं-

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च
दुःखमेव सर्वं विवेकिनः।

योगसूत्र 2/15

अनात्म में आत्मबुद्धि

शरीर इन्द्रिय प्राण मन बुद्धि आत्मा नहीं हैं अपितु ये आत्मा के कोश हैं। इन्हें आत्मा समझना अविद्या है। प्रायः अविद्यावान् पुरुष शरीरादि को ही आत्मा समझते हैं और कल्याणमार्ग से च्युत होते हैं।

इस प्रकार यह चार प्रकार की अविद्या अन्य क्लेशसन्तान का मूलकारण है। यद्यपि अविद्या अनन्तप्रकार की है फिर भी जन्ममरणादि संसार का बीजभूत जो अविद्या है वह चार प्रकार की ही है।

अविद्या भावरूप है अभावरूप नहीं

सांख्य-योग मत में अविद्या को भावरूप तत्त्व माना गया है अभावरूप नहीं। अर्थात् विद्या का अभाव अविद्या नहीं है अपितु विपरीत ज्ञान या मिथ्याज्ञान का नाम अविद्या है। मिथ्याज्ञान भी एक प्रकार का ज्ञान ही है। जैसे अमित्र शब्द का अर्थ मित्र का अभाव नहीं है, न ही मित्रमात्र इसका अर्थ है अपितु मित्र का विरोधी शत्रु अमित्र-शब्द का अर्थ है। इसी प्रकार अगोष्पद का अर्थ गाय के खुर का अभाव नहीं है अपितु गाय के खुर से भिन्न विशाल स्थान इसका अर्थ है। इसी प्रकार अविद्या का अर्थ न तो प्रमाण है न प्रमाणाभाव है अपितु विद्या का विपरीत दूसरा ज्ञान है। यदि विद्या का अभाव ही अविद्या होती तो यह क्लेशरूप संसार का हेतु न बनती तथा न ही यह चित्त का आच्छादन कर सकती थी। किन्तु यह चित्त का आवरण करती है तथा चित्त के माध्यम से आत्मा को दु:ख प्रदान करती है ।

नैयायिक लोग अविद्या में नञ् तत्पुरुष मानकर विद्या के अभाव को अविद्या कहते हैं। इसी प्रकार वे अन्धकार को भी प्रकाश का अभाव कहते हैं।

अद्वैतवेदान्ती अविद्या को विपर्यय ज्ञान का उपादान कारण कहते हैं। उनका मानना है कि जैसे शुक्ति में रजतविषयक विपर्ययज्ञान का उपादान कारण साक्षी चेतन में रहने वाली अविद्या है वैसे ही जगद्विषयक विपर्ययज्ञान का उपादान कारण ब्रह्मनिष्ठ अविद्या है।

सांख्ययोग का मत इन दोनों से थोड़ा भिन्न है। अविद्या एक भाव पदार्थ है क्योंकि भावरूप में इसकी प्रतीति आबालवृद्ध सभी को होती है। यह विपर्ययज्ञान का कारण भी है तथा स्वयं भी विपर्ययज्ञान है। इसी बात को भाष्यकार कह रहे हैं-

अविद्या न प्रमाणं न प्रमाणाभावः किन्तु
विद्याविपरीतं ज्ञानान्तरमविद्येति।

व्यासभाष्य 2/5

अस्मिता

बुद्धि और पुरुष में अभिन्नता न रहने पर भी अभिन्नता की जैसी प्रतीति होना अस्मिता है। अविद्यारूप होने से यह भी एक क्लेश है। इसी बात को सूत्रकार ने कहा है-

दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता।

योगसूत्र 2/5

भाव यह है कि पुरुष दृक्शक्ति है और बुद्धि दर्शनशक्ति है। 'पश्यतीति दृक्' इस व्युत्पत्ति से पुरुष द्रष्टा होने के कारण दृक्शक्ति कहलाता है। दृश्यते इति दर्शनम्- अर्थात् जो देखा जाये उसे दर्शन कहते हैं, इस व्युत्पत्ति के अनुसार बुद्धि दर्शनशक्ति अर्थात् भोग्य कहलाती है। ये दोनों परस्पर अत्यन्त भिन्न हैं। किन्तु जब इन दोनों में एकरूपता की प्रतीति होती है तब उसे अस्मिता कहते हैं। इसी का दूसरा नाम भोग है।

अस्मिता का ही दूसरा नाम अहंभाव या अहंकार है। 'मैं हूँ', 'मैं सुखी हूँ', 'मैं दुःखी हूँ' इत्यादि आकार अस्मिता के हैं। इसकी चर्चा भगवान् ने गीता में की है-

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि भविष्यति पुनर्धनम्॥
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी॥

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः॥

गीता 16/13-15

अस्मिता का स्वरूप है-"मैंने आज यह पाया है कल दूसरा मनोरथ प्राप्त कर लूंगा, इतना धन आ चुका है कल और भी होगा, इस शत्रु को तो मैंने मार दिया, दूसरों को भी मार दूंगा। मैं ईश्वर हूँ, मैं भोगी हूँ, बलवान् हूँ, सुखी हूँ, मैं धनवान् हूँ, उच्च कुल में उत्पन्न हुआ हूँ, मुझ जैसा भला अन्य कौन है, मैं यज्ञ करूँगा, दान करूँगा, आनन्द का भोग करूँगा" इस प्रकार अज्ञान से मोहित लोग कल्पना करते हैं।

यद्यपि अस्मिता और अविद्या में भिन्नता है फिर भी कार्यकारण में अभेद मानकर अस्मिता को अविद्या कहा गया है। अविद्या कारण है अस्मिता कार्य है,किन्तु दोनों मिथ्याज्ञान हैं। अतः क्लेश कहे गये हैं।

इस अस्मिता को श्रुति में हृदय की ग्रन्थि कहा गया है जिसका भेदन विवेकख्यातिरूप विद्या से होता है।

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे।।

मुण्डक 2/2/8

राग

'सुखानुशयी रागः।'

योगसूत्र 2/7

सुख भोगने के पश्चात् अन्तःकरण में एक प्रकार की जो अभिलाषा उत्पन्न होती है उसे राग कहते हैं। जिस पुरुष ने सुख का अनुभव किया है उसे सुख और स्त्री आदि सुखसाधनों के प्रति एक लोभ उत्पन्न होता है जिसके प्रभाव से वह पुरुष सदा उसी सुख से और सुखसाधन से पृथक् नहीं होना चाहता, वही लोभ राग कहलाता है। यह भी एक प्रकार का क्लेश है।

द्वेष

'दुःखानुशयी द्वेषः '

योगसूत्र 2/8

जिस पुरूष ने दुःख का अनुभव किया है उस पुरूष को दुःखस्मृतिपूर्वक दुःख में तथा उसके साधन शत्रु आदि के विषय में जो एक विशेष प्रकार का क्रोध उत्पन्न होता है वह द्वेष कहलाता है।

रागद्वेष दोनों ही अज्ञानात्मक हैं। सुख में राग और दुःख में द्वेष इसी अज्ञान के कारण होता है। क्योंकि रागी और द्वेषी पुरुष यह जानता ही नहीं कि सुख और दुःख का वास्तविक कारण क्या है। वह समझता है वास्तविक सुख दुःख का कारण बाह्य साधन हैं। बाह्य विषयों और बाह्य साधनों से सुख दुःख नहीं मिलता। वास्तविक सुख आत्मज्ञान में है और दुख का कारण हमारे अशुभ कर्म हैं। इसी अज्ञान के कारण राग और द्वेष जन्म लेते हैं। इसलिये ये दोनों ही क्लेश हैं।

अभिनिवेश

मृत्यु के भय को अभिनिवेश कहते हैं। सभी प्राणी जीना चाहते हैं। सभी चाहते हैं कि मेरा अभाव कभी न हो, मैं सदा ही विद्यमान रहूँ। मृत्यु का

भय यह सिद्ध करता है कि यह प्राणी पूर्व जन्मों में मरता आया है क्योंकि जिसने कभी मृत्यु का अनुभव नहीं किया है वह मृत्यु से भला क्यों डरेगा। इसलिये उक्त मरणभय की स्मृति यह सिद्ध करती है कि पूर्वजन्म में इस प्राणी ने मरणदु:ख का अनुभव किया है, क्योंकि अनुभव के बिना स्मृति असम्भव है। इसलिये अभिनिवेश को स्वरसवाही कहा गया है। स्वरसवाही का अर्थ है पूर्वजन्म के मरणभय को अनुभव के संस्कारों से स्वभावत: वहन करने वाला। इससे पूर्वजन्म की सिद्धि होती है।

मृत्यु का यह भय मनुष्य को ही नहीं अपितु तत्काल उत्पन्न हुए कृमि, कीट, पतंगादि सभी प्राणियों में समानरूप से व्याप्त है। मनुष्यों में भी केवल विद्वान् को ही नहीं अपितु अत्यन्त मूढ नवजात बालक को भी मृत्यु का भय होता है। इसीलिये सूत्रकार ने अभिनिवेश का यह स्वरूप बताया है-

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः।

योगसूत्र 2/9

विद्वान् और अविद्वान् दोनों को समानरूप से मृत्यु का भय इसलिये है क्योंकि मरणदु:ख के अनुभव की वासना दोनों में समान है।

यहाँ विद्वान् का अर्थ शास्त्रों का अध्ययन करने वाले विद्वान् समझना चाहिये। जो विद्वान् सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात समाधि में सिद्ध हैं उनको मृत्युभय नहीं होता। श्रुति कहती है-आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन।

जो विद्वान् केवल शास्त्रों का अध्ययन करते हैं, समाधिनिष्ठ नहीं है उन्हें ही मृत्युभय पीडित करता है। इस प्रकार यह अभिनिवेश अत्यन्त व्यापक क्लेश है। केवल पढ़ने-पढ़ाने से ही यह दूर नहीं होता। इसके लिये तो चित्तवृत्तिनिरोध सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात योग का ही अभ्यास अपेक्षित है।

अविद्यादि क्लेशों का भेदनिरूपण

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश उक्त पाँचों को सांख्य तथा योगदर्शन में विपर्यय की संज्ञा दी गयी है। इन्हें क्रमशः तम, मोह, महामोह ,तामिस्र और अन्धतामिस्र भी कहा जाता है। अर्थात् अविद्या को तम, अस्मिता को मोह, राग को महामोह, द्वेष को तामिस्र और अभिनिवेश को अन्धतामिस्र नाम से भी कहा जाता है। तम के आठ भेद हैं, मोह भी आठ प्रकार का है, महामोह के दस भेद हैं तथा तामिस्र और अन्धतामिस्र के अठारह-अठारह भेद

हैं। इस प्रकार विपर्यय के बासठ भेद हो जाते हैं। यही भेदनिरूपण आचार्य ईश्वरकृष्ण ने सांख्यकारिका में किया है।

भेदस्तमसोऽष्टविधो मोहस्य च दशविधो महामोहः।
तामिस्त्रोऽष्टादशधा तथा भवत्यन्धतामिस्त्रः।।

कारिका 48

तम के आठ भेद

अविद्या अर्थात् तम के आठ भेद हैं। प्रकृति महत्तत्त्व, अहंकार तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पाँच तन्मात्र इन आठ तत्त्वों को आत्मा मान लेना तम है। इस प्रकार आठ तत्त्वों में आत्मबुद्धि होने के कारण तम के आठ भेद हो जाते हैं।

मोह के आठ भेद

प्रकृति और पुरुष में अभिन्नता की प्रतीति को अस्मिता कहा गया था। अस्मिता ही मोह है। अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति , प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व इन आठ प्रकार की सिद्धियों को आत्मा का धर्म मान लेना ही मोह है। जैसे मैं तपस्या से प्राप्त अणिमात्मक ऐश्वर्य से युक्त हूँ, यह अणिमाजन्य मोह है। ये सिद्धियाँ वास्तव में आत्मा के धर्म नहीं हैं अपितु चित्त के धर्म हैं। मोहवश इन्हें आत्मा का धर्म मान लिया जाता है। इस प्रकार अणिमादि आठ सिद्धियों के भेद से मोह नामक क्लेश आठ प्रकार का हो जाता है।

महामोह के दस भेद

शब्दादि विषयों में राग को महामोह कहते है। शब्द, स्पर्श , रूप, रस और गन्ध ये पाँच विषय दिव्य और अदिव्य के भेद से दस प्रकार के हो जाते हैं। मुझे शब्द का सुख प्राप्त हो, मुझे स्पर्श का सुख प्राप्त हो , इस प्रकार इन दस प्रकार के विषयों में जो राग है वही महामोह है। विषयभेद से यह महामोह दस प्रकार का हो जाता है। पाँच प्रकार का अदिव्यविषयक राग तो हम मनुष्यों का है और पाँच प्रकार का दिव्यविषयों वाला महामोह देवताओं का है।

तामिस्त्र के अठारह भेद

द्वेष का नाम तामिस्त्र है। यह अठारह प्रकार का है। पूर्वोक्त दस विषय तथा आठ सिद्धियों में जो यह भाव है कि "मेरे उक्त विषय और सिद्धियाँ कभी नष्ट न हों" यही तामिस्त्र है। विषय और सिद्धियों के भेद से यह अठारह प्रकार का है।

अन्धतामिस्त्र के अठारह भेद

अभिनिवेश ही अन्धतामिस्त्र है। **"पूर्वोक्त दस विषयों और आठ सिद्धियों को असुर लोग कहीं नष्ट न कर दें"** इस प्रकार का जो विनाश का भय है यही अन्धतामिस्त्र है। इन विषयों और आठ सिद्धियों के भेद से यह भी अठारह प्रकार का हो जाता है।

इस प्रकार पूर्वोक्त अविद्यादि पाँच क्लेशों के बासठ भेद हो जाते हैं। ये समस्त क्लेश विपर्यय ही हैं। केवल समाधिजन्य सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिरूप विवेकज्ञान से ही इनका हान किया जा सकता है। इसलिये विवेकशील योगीजन योगाभ्यास में प्रवृत्त होते हैं।

संयम क्या है?

संयम योगदर्शन का पारिभाषिक शब्द है। योगदर्शन से भिन्न स्थानों पर संयम शब्द का सामान्य अर्थ नियन्त्रण, धैर्य तथा इन्द्रियविजय है किन्तु महर्षि पतञ्जलि ने समाधिजन्य विभूतियों की प्राप्ति के लिये एक साधनाविशेष के रूप में संयम शब्द को पारिभाषित किया है। संयम का अर्थ है–

त्रयमेकत्र संयमः।

योगसूत्र 3/4

अर्थात् धारणा, ध्यान और समाधि इन तीनों का विषय जब एक ही वस्तु हो तब इन तीनों का सम्मिलित नाम संयम है। अर्थात् जिस विषय में धारणा की गयी हो उसी विषय में यदि ध्यान और समाधि भी किये गये हों तब इन तीनों का समुदाय संयम कहा जाता है। जब धारणा किसी अन्य विषय में हो तथा ध्यान और समाधि किसी अन्य विषय में किये जायें तब इन तीनों का समुदाय संयम नहीं कहा जाता है।

धारणा, ध्यान और समाधि का विस्तारपूर्वक विवेचन आगे किया जायेगा। यहाँ केवल इतना समझना पर्याप्त होगा कि स्थूल तथा सूक्ष्म किसी भी विषय में वृत्ति द्वारा चित्त को बाँध देना धारणा है, वह वृत्ति जब एकाग्रता को प्राप्त हो जाये तो वह ध्यान कहलाता है किन्तु जब वही ध्यान अभ्यासवश ध्यानाकारता को त्याग कर केवल ध्येयरूप से स्थित होना प्रतिभासित होता है तब वह समाधि कहलाता है।

संयम का फल

जब योगी का संयम का अभ्यास दृढ हो जाता है और जब वह किसी भी विषय पर बिना किसी विघ्न के धारणा, ध्यान तथा समाधि को सिद्ध कर सके तब उसकी यह योग्यता संयमजय कहलाती है। अर्थात् वह संयम का विजेता कहलाता है। जब योगी संयमजयी हो जाता है तब उसको समाधिप्रज्ञा का आलोक प्राप्त होता है। यही बात सूत्रकार कह रहे हैं-

तज्जयात् प्रज्ञालोकः। योगसूत्र 3/5

विजातीय प्रत्यय के अभावपूर्वक केवल ध्येयविषयक शुद्ध सात्त्विक प्रवाहरूप से जब बुद्धि स्थिर हो जाती है तो यह बुद्धि प्रज्ञालोक कहलाती है। उक्त संयमजय से योगी को यह प्रज्ञालोक प्राप्त होता है। प्रज्ञालोक के प्रभाव से योगी को संशय और विपर्यय से रहित ध्येय तत्त्व का यथार्थ साक्षात्कार होता है। यह सूक्ष्म व्यवहित तथा दूरस्थ वस्तु का यथार्थ प्रत्यक्ष करने में समर्थ होता है। इसी बात को भाष्यकार स्पष्ट कर रहे हैं-

यथा यथा संयमः स्थिरपदो भवति
तथा तथा समाधिप्रज्ञा विशारदी भवति।।

व्यासभाष्य 3/5

अर्थात् ज्यों-ज्यों धारणा, ध्यान तथा समाधिरूप संयम दृढता को प्राप्त होता है वैसे वैसे समाधिजन्य बुद्धि निर्मलता को प्राप्त होती है।

संयम का विनियोग क्रम से करें

संयम करने के लिये महर्षि पतञ्जलि ने यह दिशानिर्देश दिया है कि योगी को संयम का अभ्यास क्रम से ही करना चाहिये, क्रम का उल्लंघन करके नहीं । यदि क्रम का उल्लंघन करके संयम का अभ्यास किया जायेगा तो उससे प्रज्ञालोक की प्राप्ति नहीं होगी।

योग की चार भूमियाँ हैं- सवितर्क, निवितर्क, सविचार तथा निर्विचार। इनका विस्तृत विवेचन आगे किया जायेगा। सर्वप्रथम सवितर्क में फिर निवितर्कभूमि मं, उसके पश्चात् सविचार में तथा उसके पश्चात् निर्विचारभूमि में संयम का विनियोग करना चाहिये । यह क्रम वैसा ही है जैसे भवन की छत पर पहुँचने के लिये सोपानक्रम से ही चढना पडता है। सबसे पहले प्रथम सोपान पर , फिर दूसरे पर फिर तीसरे पर पैर रखकर अन्त में अन्तिम सोपान पर पैर रखा जाता है। वैसे ही सबसे पहले सवितर्कभूमि पर संयम का विनियोग करना चाहिये और सबसे अन्त में निर्विचार भूमि में विनियोग करना चाहिये।

विष्णुपुराण में भी भगवान् की प्रतिमा का ध्यान क्रम से ही बताया गया है। प्रथम चरण में शंख, चक्र, गदा , धनुष आदि को धारण किये हुए भगवान् का ध्यान करना चाहिये। द्वितीय चरण में उक्त आयुधों से रहित भगवद् रूप का चिन्तन करना चाहिये। जब उस रूप में धारणा सिद्ध हो जाए तब तृतीय चरण में किरीट, केयूर आदि प्रमुख आभूषणों से रहित भगवान् का चिन्तन करें। चतुर्थ चरण में भगवान् के मुख पर धारणा का अभ्यास करें। पाँचवे चरण में 'सोऽहं' ऐसी सूक्ष्म भावना करें। षष्ठ चरण में केवल 'अहं' ऐसी अतिसूक्ष्म भावना करें। इस प्रकार क्रम-क्रम से ही संयम करने पर भगवद्विषयक समाधि पूर्ण होती है। यही बात निम्न श्लोकों में कही गयी है-

ततः शङ्खचक्रगदाशार्ङ्गादिरहितं बुधः।
चिन्तयेद् भगवद्रूपं प्रशान्तं साक्षसूत्रकम्॥
या च धारणा तस्मिन् अवस्थानवती ततः।
किरीटकेयूरमुखैर्भूषणै रहितं स्मरेत्॥
तदेकावयवं देवं सोऽहं चेति पुनर्बुधः।
कुर्यात्ततो ह्यहमिति प्रणिधानपरो भवेत्॥

विष्णुपुराण

जिज्ञासा हो सकती है कि यह कैसे पता चलेगा कि यह प्रथम भूमि है और उसके पश्चात् यह भूमि है? तो इसका उत्तर भाष्यकार ने दिया है कि यह जानने का प्रयत्न योगी को पृथक् से नहीं करना पड़ता। योग जैसे ही प्रारम्भ किया जाता है अगला मार्ग स्वयमेव ज्ञात होता जाता है। योगाभ्यास की यही विशेषता है कि उसके लिये न तो किसी शास्त्रज्ञान की आश्यकता है और न किसी प्रचार-प्रसार की। अभ्यास स्वयं बता देता है कि आगे क्या करना है। वस्तुतः योग का अध्यापक योग ही है। योग ही निर्देशक है और योग ही शिक्षणीय है। बस आवश्यकता इस बात की है कि प्रमादरहित होकर साधक योगमार्ग पर निरन्तर चलता रहे। एक पल के लिये भी प्रमादरहित न होवे। यही बात भाष्यकार कह रहे हैं-

योगेन योगो ज्ञातव्यो योगो योगात्प्रवर्त्तते।
योऽप्रमत्तस्तु योगेन स योगे रमते चिरम्॥

व्यासभाष्य 3/6

अर्थात् योग का ज्ञान योग से ही करना चाहिये। क्योंकि योग में प्रवृत्ति योग से ही होती है। जो निरन्तर प्रमादरहित होकर योगाभ्यास करता है वह चिरकाल तक योग में रमण करता है।

विभूतिनिरूपण

विभूति क्या है? दिव्य तथा असाधारण शक्ति को विभूति कहते हैं। योगसाधना करते हुए ज्यों-ज्यों साधक योग की प्रथम भूमि पर आरूढ़ होता है त्यों-त्यों उसके चित्त में दिव्य शक्तियों का अविर्भाव प्रारम्भ हो जाता है। इन्हें लोक में सिद्धियाँ भी कहा जाता है, किन्तु व्युत्थानकाल में ही इन्हें सिद्धियाँ कहा जाता है। समाधिकाल में इन्हें सिद्धि नहीं कहा जाता। समाधि में तो इनको विघ्न ही समझना चाहिये। इसीलिये सूत्रकार ने सावधान किया है कि विभूतियों में साधक की रुचि नहीं होनी चाहिये। सूत्रकार कहते हैं-

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः।

योगसूत्र

अर्थात् जो साधक विवेकख्याति के द्वारा कैवल्य की प्राप्ति के लिये असम्प्रज्ञात समाधि के अभिलाषी हैं उनके लिये इन सिद्धियों में कोई आकर्षण नहीं होता। साधारण योगियों के लिये ही ये शक्तियाँ विभूतियाँ कहलाती हैं। जैसे यदि कोई व्यक्ति जन्म से ही दरिद्र हो और उसे थोड़ा-सा भी धन मिल जाये तो वह स्वयं को बड़ा धनवान् मानकर कृतार्थ समझता है। भाग्यशाली तथा धनसम्पन्न व्यक्ति के लिये धन का उतना महत्त्व नहीं होता। वैसे ही व्युत्थित चित्त पुरुष ही विवेकख्यातिरूप महान् फल की अपेक्षा इन तुच्छ सिद्धियों के लाभ से अपने को बड़ा सिद्ध मानकर कृतार्थ समझता है। समाहितचित्त योगी इनसे स्वयं को कृतकृत्य नहीं मानता। वे तो इन सिद्धियों को आत्मसाक्षात्कार के जनक असम्प्रज्ञात समाधि में विघ्न समझता है। अतः परमपुरुषार्थ के अभिलाषी पुरुष को इन विघ्नरूप सिद्धियों से मोह नहीं करना चाहिये।

विभूतियाँ तो योगमार्ग में कंकड़-पत्थरों की तरह कदम-कदम पर बिखरी रहती हैं। इनको देखकर बचकर निकल जाना चाहिये तथा असम्प्रज्ञात समाधि पर्यन्त अभ्यास निरन्तर करते रहता चाहिये।

इस प्रकार निष्कर्ष यह हुआ कि संयम का मुख्य फल आत्मसाक्षात्कार है। विभूतियाँ तो संयम का आनुषंगिक फल हैं। फिर भी विभूति का फल योगी को मिलता है। विभूति की प्राप्ति भी आत्मसाक्षात्कार में हेतु बन सकती है यदि योगसाधक इसका उपयोग बुद्धिमत्ता से करे। योगमार्ग में प्राप्त हुई विभूति साधक को यह निर्देश दे रही होती है कि उसकी साधना ठीक दिशा में चल रही है। विभूति को प्राप्त करके साधक को यह सोचकर आश्वस्त हो जाना चाहिये कि जब थोड़े से संयम के अभ्यास से यह दुर्लभ शक्ति प्राप्त हो सकती

है तो एक दिन अवश्य ही आत्मसाक्षात्कार भी प्राप्त होगा। बस इतनी ही उपयोगिता आत्मसाक्षात्कार में विभूति की समझनी चाहिये। इससे अधिक इनको महत्त्व देना साधक के लिये हानिकर हो सकता है।

वस्तुतः योगविभूति तो एक प्रकार की शक्ति है। इसका उपयोग शुभ कार्य के लिये भी हो सकता है और अशुभ कार्य के लिये भी। जैसे विद्युत् एक शक्ति है। जीवन को सुखमय बनाने के लिये भी इसका उपयोग किया जा सकता है और जीवन का विनाश भी इससे हो सकता है। विकास और विनाश में से किसे चुनना है यह उपयोग करने वाले की बुद्धि पर निर्भर करता है। इसी प्रकार संयम से प्राप्त विभूति मारक भी है और उज्जीवक भी है। इसके प्रति आकर्षण घातक है क्योंकि यह आत्मसाक्षात्काररूप अन्तिम लक्ष्य से योगी को भ्रष्ट करती है। यदि साधक इन विभूतियों से शरीर, मन और इन्द्रियों की दृढता प्राप्त करके इनका उपयोग योगाभ्यास के लिये निरन्तर अनुष्ठित करता है तो यह संजीवनी भी है।

विभूतियों की संख्या

संयमजन्य अन्तिम विभूति विवेकख्याति की प्राप्ति है जिसके द्वारा कैवल्य की प्राप्ति होती है। किन्तु इससे पहले महर्षि पतञ्जलि ने विभूतिपाद में संयमजन्य 49 अन्य विभूतियों का उल्लेख किया है। इन विभूतियों के नाम इस प्रकार हैं–

1. अतीतानागतज्ञान 2. सर्वभूतरुतज्ञान 3. पूर्वजातिज्ञान 4. परचित्तज्ञान 5. अन्तर्धान 6. अपरान्तज्ञान 7. मैत्र्यादिबलप्राप्ति 8. हस्त्यादिबलप्राप्ति 9. सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्ट ज्ञान 10. भुवनज्ञान 11. ताराव्यूहज्ञान 12. तारागतिज्ञान 13. कायव्यूहज्ञान 14. क्षुत्पिपासानिवृत्ति 15. स्थिरता 16. सिद्धदर्शन 17. त्रैकालिक पदार्थज्ञान 18. चित्तसंवित् 19. पुरुषज्ञान 20. प्रातिभज्ञान 21. श्रावणज्ञान 22. वेदकज्ञान 23. आदर्शज्ञान 24. आस्वादज्ञान 25. वार्ताज्ञान 26. परकायप्रवेश 27. जल, पंक तथा कण्टक के ऊपर स्वच्छन्द गमन 28. ऊर्ध्वलोकगमन 29. ज्वलन 30. दिव्य श्रोत्र 31. आकाशगमन 32. प्रकाशावरणक्षय 33. भूतजय 34. अणिमा 35. लघिमा 36. महिमा 37. गरिमा 38. प्राप्ति 39. प्राकाम्य 40. ईशित्व 41. वशित्व 42. कायसम्पत् 43. अभिघाताभाव 44. इन्द्रियजय 45. मनोजवित्व 46. विकरणभाव 47. प्रधानजय 48. सर्वाधिष्ठातृत्व 49. सर्वज्ञत्व

उपर्युक्त उनचास संयमजन्य विभूतियों का नामतः निर्देश महर्षि पतञ्जलि ने योगसूत्र के विभूतिपाद में किया है। किस विषय में संयम करने से किस विभूति की प्राप्ति होती है इसका संक्षिप्त विवेचन करना यहाँ उचित होगा। अतः क्रमशः यहाँ धारणा, ध्यान, समाधिरूप संयम के विषय का निर्देश किया जा रहा है।

1. **अतीतानागतज्ञान**

महर्षि पतञ्जलि कहते हैं-

परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम् योगसूत्र 3/16

अर्थात् त्रिविध परिणाम में धारणा, ध्यान तथा समाधि का अभ्यास करने से योगी को भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान के सकल पदार्थों का साक्षात्कार होता है।

परिणाम का अर्थ है परिवर्तन अथवा वस्तु का अन्यथाभाव। यह परिणाम त्रिगुणात्मक वस्तुओं का होता है। पुरुषतत्त्व जो कि त्रिगुणहीन है उसका परिणाम नहीं होता। वह तो नित्य कूटस्थ और अविचल है। चित्त इन्द्रिय तथा भूत भौतिक सभी पदार्थ त्रिगुणात्मक हैं। उन्हीं का परिणाम होता है। त्रिगुणात्मक पदार्थों का यह परिणाम तीन प्रकार का होता है- धर्मपरिणाम, लक्षणपरिणाम तथा अवस्थापरिणाम। उदाहरण के लिये चित्त का परिणाम देखिये। चित्त का परिणाम भी तीन प्रकार का होता है- निरोधपरिणाम, समाधि परिणाम तथा एकाग्रतापरिणाम। निरोधसमाधिकाल में अभ्यासवश जैसे जैसे निरोधसंस्कारों का प्रादुर्भाव होता जाता है वैसे-वैसे व्युत्थानसंस्कारों का तिरोभाव भी होता जाता है। इस प्रकार व्युत्थानसंस्कारों का तिरोभाव और निरोधसंस्कारों का प्रादुर्भाव, इन दोनों अवस्थाओं में निरुद्धचित्त का सम्बन्ध बना रहता है। यह चित्त का निरोधपरिणाम कहलाता है।

व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ
निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः॥ योगसूत्र 3/9

जब चित्त में अनेकार्थता का क्षय होता है और एकाग्रता का उदय होता है तब यह चित्त का समाधिपरिणाम कहलाता है।

सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः।

योगसूत्र 3/11

उसके पश्चात् विक्षिप्तता का जब सम्पूर्णरूप से क्षय हो जाता है तब प्रथम क्षण में और द्वितीय क्षण में निरोध प्रत्ययों की ही उत्पत्ति होती है। इस प्रकार जितने प्रत्यय उदय हो होकर शान्त होते हैं वे सब निरोधरूप ही होते हैं।

चित्त का समाधिपरिणाम और एकाग्रतापरिणाम सम्प्रज्ञातसमाधिकाल में ही होता है असम्प्रज्ञातसमाधिकाल में नहीं। असम्प्रज्ञातसमाधिकाल में तो चित्त में कोई भी प्रत्यय नहीं होता है। संस्कार ही शेष रहता है। अतः उस अवस्था में निरोध परिणाम होता है।

इसी प्रकार पृथिवी आदि महाभूतों का गौ, घट, पटादि के रूप में जो परिणाम होता है वह भूतों का धर्मपरिणाम होता है। उन गौ, घटादि पदार्थों का जो अतीत, अनागत तथा वर्त्तमानरूप काल से लक्षण बनता है वह उसका लक्षणपरिणाम कहा जाता है। फिर उन गौ आदि का जो बाल्य, कौमार, यौवन तथा वार्धक्यरूप परिणाम होता है वह उनका अवस्थापरिणाम होता है। इस प्रकार कोई भी त्रिगुणात्मक पदार्थ उक्त धर्म लक्षण तथा अवस्थारूप परिणाम से एक क्षण के लिए भी शून्य नहीं होता। क्योंकि सत्त्व, रजस्, तथा तमस् इन तीनों गुणों का स्वभाव ही चंचल है।

पूर्वोक्त धर्म लक्षण तथा अवस्थारूप त्रिविध परिणाम में धारणा ध्यान समाधिरूप संयम का अभ्यास करने से साधक को भूत, वर्त्तमान तथा भविष्यत् काल के पदार्थों का साक्षात्कार होता है- यही अतीतागतज्ञानरूप विभूति है।

2. सर्वभूतरुतज्ञान

समस्त पशु, पक्षी, मनुष्य आदि समस्त प्राण्यिों के शब्दों का ज्ञान होना भी एक विभूति है। प्रायः मनुष्य अपनी भाषा के शब्दों का ही अर्थ समझता है। दूसरी भाषा के शब्दों का अर्थ वह नहीं जानता। पशु, पक्षी आदि परस्पर क्या बात कर रहे हैं इसका ज्ञान तो मनुष्य को होता ही नहीं किन्तु वह पशु, पंक्षी आदि सभी प्राणियों की भाषा समझ सकता है यदि वह इस निम्नोक्त संयम का अभ्यास करे। महर्षि पतञ्जलि इस प्रकार के संयम का निर्देश कर रहे हैं- **शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात्संकरस्तत्प्रविभाग-**

संयमात् सर्वभूतरुतज्ञानम्। योगसूत्र 3/17

अर्थात् शब्द, अर्थ तथा ज्ञान ये तीनों तत्त्व पृथक्-पृथक् हैं। किन्तु प्रायः इनमें इतरेतराध्यास होता है अर्थात् अन्य में अन्यबुद्धि होती है। अतः ये तीनो मिश्रित प्रतीत होते हैं। जब योगी परमार्थ दृष्टि से उन तीनों को पृथक्-पृथक् जानकर तद्विषयक संयम करता है तब उस योगी को पशु-पक्षी आदि समस्त प्राणियों के शब्दों का ज्ञान होता है। अर्थात् यह काक इस शब्द से इस अर्थ का बोधन कर रहा है यह बात जान जाता है। यह एक विलक्षण शक्ति है जो योगी को शब्द, अर्थ और उसके ज्ञान के विभाग में संयम करने से प्राप्त होती है।

3. पूर्वजातिज्ञान

अपने पूर्वजन्मों का ज्ञान प्राप्त कर लेना एक अद्‌भुत ऐश्वर्य है। प्रायः प्राणी यह भूल जाता है कि मैं इस जन्म से पहले किस योनि में था, मैं कहाँ उत्पन्न हुआ था, मेरे माता-पिता कौन थे, मैं सुखी था या दुःखी था। केवल इससे पूर्व का एक जन्म ही नहीं अपितु कल्पों महाकल्पों में जितने भी जन्म हो चुके हैं उन सभी का ज्ञान योगी को हो सकता है। यह कैसे सम्भव है, एतद्विषयक संयम का निर्देश सूत्रकार करते हैं-

संस्कारसाक्षात्करणात् पूर्वजातिज्ञानम्। योगसूत्र 3/18

अर्थात् संयम द्वारा संस्कार का साक्षात्कार करने से पूर्वजन्मों का ज्ञान योगी को होता है। भाव यह है कि पूर्व के जितने भी जन्म हो चुके हैं उन सबके संस्कार चित्त में विद्यमान हैं। उन संस्कारों में धारणा, ध्यान, समाधि करने से उन संस्कारों का ज्ञान होता है। तत्पश्चात् उन संस्कारों के विषय जो पूर्व देव मनुष्यादि के जन्म हैं उनका प्रत्यक्ष ज्ञान योगी को प्राप्त होता है।

संस्कार अदृष्ट हुआ करते हैं। उनका प्रत्यक्ष दर्शन नहीं होता। निरोध धर्म, संस्कार, परिणाम, जीवन, चेष्टा और शक्ति ये चित्त के सात धर्म दर्शनवर्जित माने गये हैं। साधारण मनुष्यों को इनका दर्शन नहीं होता। यही बात भाष्यकार न कही है-

निरोधधर्मसंस्काराः परिणामोऽथ जीवनम्।
चेष्टा शक्तिश्च चित्तस्य धर्मा दर्शनवर्जिताः॥

व्यासभाष्य 3/15

संस्कारों का साक्षात्कार केवल संयम से सम्भव है। पूर्वजन्मों के जितने भी संस्कार हैं वे सभी चित्त में संगृहीत हैं। यदि संयम किया जाये तो पूर्वजन्मों का ज्ञान होने में कोई आश्चर्य की बात नहीं । इस विषय में यह कथा उल्लिखित की जाती है-

महर्षि जैगीषव्य एक महान् सिद्ध योगी थे। विगत दश महाकल्पों में उनके जितने भी जन्म हो चुके थे उन सबका क्रमशः साक्षात्कार उन्हें संयम द्वारा प्राप्त हो चुका था। किसी समय संयोगवश महर्षि आवट्य उनसे मिले। आवट्य ने पूछा- हे महर्षे! आपने दश महाकल्पों में अनेक योनियों में जन्म लिया है। अनेक नरक तिर्यक् आदि गर्भों में दुःख का अनुभव किया है तथा देव मनुष्य आदि योनियों में सुख का भी भोग किया है। संस्कार का साक्षात्कार करके आप यह बताइये कि संसार में सुख अधिक है या दुःख?

भगवान् जैगीषव्य बोले- मैनें दश महाकल्पों में देव मनुष्य तिर्यक्

आदि योनियों में बार-बार उत्पन्न होकर जो कुछ भी अनुभव किया है उस सबको मैं दु:ख ही जानता हूँ। यह संसार दु:खबहुल ही नहीं अपितु दु:खरूप ही है, ऐसा मैंने निश्चय किया है।

इस कथा का उल्लेख यह दिखाने के लिये किया गया है कि पूर्वजन्मों का वृत्तान्त जानने के लिये संस्कार में संयम करना पड़ताहै। केवल अपने ही नहीं अपितु दूसरों के संस्कारों में संयम करने से दूसरों के भी पूर्वजन्मों का साक्षात्कार किया जा सकता है।

पुन: महर्षि आवट्य ने भगवान् जैगीषव्य से प्रश्न किया कि प्रधान वशित्व नामक ऐश्वर्य से तो बड़ा दिव्य सुख मिलता है। तथा **'सन्तोषादनुत्तमः सुखलाभः'** इस नियम के अनुसार सन्तोष से अनुत्तम सुख प्राप्त होता है, तो क्या यह सुख भी दु:खरूप है?

भगवान् जैगीषव्य ने उत्तर दिया कि यह सन्तोष का सुख विषयसुख की अपेक्षा तो अत्यन्त उत्तम है किन्तु कैवल्यरूप सुख की अपेक्षा से यह सन्तोषसुख भी दु:ख ही है। इस प्रकार संसार में सुख है ही नहीं। संसार को तो दु:ख का पर्याय ही कहना चाहिये।

4. परचित्तज्ञान

अन्य पुरुष के चित्त में संयम करने से योगी को अन्य पुरुष के चित्त का साक्षात्कार होता है। इस पुरुष का चित्त रागादि से युक्त है अथवा रागादि से रहित है इस प्रकार का ज्ञान उस पुरुष के चित्त में धारणा, ध्यान, समाधि का अभ्यास करने से होता है।

प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम्। -योगसूत्र 3/19

5. अन्तर्धान

जब योगी के शरीर को कोई अन्य मनुष्य आदि न देख सके तो यह अन्तर्धान नामक विभूति कहलाती है । अपने शरीर के रूप में संयम करने से उस रूप में अन्य पुरुष के चक्षु से देखने योग्य जो ग्राह्यशक्ति है वह रुक जाती है। तब अन्य पुरुष के नेत्र की किरणों से योगी के शरीर का संयोग न होने से योगी के शरीर का अन्तर्धान हो जाता है। अर्थात् उसी स्थान पर विद्यमान रहने पर भी पास का पुरुष भी उसको देख नहीं सकता है। केवल उसके रूप को ही नहीं अपितु अपने शरीर के शब्द, स्पर्श, रस तथा गन्ध में संयम करने से उसके शब्दादि का ग्रहण भी कोई अन्य व्यक्ति नहीं कर सकता।

यह अन्तर्धान नामक विभूति है।

कायरूपसंयमात् तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे
चक्षुष्प्रकाशासम्प्रयोगेऽन्तर्धानम्। - योगसूत्र 3/21

6. **अपरान्तज्ञान**

मृत्यु के ज्ञान को अपरान्तज्ञान कहते है। मेरी मृत्यु किस दिन, किस क्षण में तथा किस प्रकार होगी ऐसा ज्ञान होना एक उत्तम विभूति है। अपने कर्मों में संयम करने से योगी को यह विभूति प्राप्त होती है। सूत्रकार कहते हैं -

सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म
तत्संयमादपरान्तज्ञानमरिष्टेभ्यो वा। योगसूत्र 3/22

अर्थात् आयुपर्यन्त भोगने योग्य कर्म दो प्रकार के होते हैं- सोपक्रम तथा निरुपक्रम। तीव्र गति से फल देनेवाला कर्म सोपक्रम कहलाता है और मन्द फलप्रद कर्म निरुपक्रम कहलाता है। जो कर्म फल देने में प्रवृत्त होकर अपना अधिक फल दे चुका हो और स्वल्प फल देना जिसका शेष रहा हो वह सोपक्रम कर्म कहलाता है क्योंकि वह उपक्रम अर्थात् फलव्यापार से रहित है। इन दोनों प्रकार के कर्मों में संयम करने से योगी को मृत्यु का साक्षात्कार हो जाता है।

मृत्यु निकट है या नहीं इस बात को जानने का एक उपाय अन्य भी है वह है अरिष्टों का ज्ञान। सन्निहित मरणसूचक चिह्न को अरिष्ट कहा जाता है-

'अरिवद् त्रासयति इति अरिष्टं सन्निहितमरणचिह्नम्।'

अर्थात् शत्रु के समान जो त्रास देता है, ऐसे मृत्युसूचक चिह्न को अरिष्ट कहा जाता है। मृत्यु से पहले शरीर तथा चित्त में कुछ ऐसे चिह्न प्रकट होने लगते हैं जिन्हें देखकर यह जान लिया जाता है कि मृत्यु अब निकट ही है। ऐसे अरिष्ट तीन प्रकार के है-आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक।

*** आध्यात्मिक अरिष्ट-**

कान बन्द कर लेने पर भीतर की ध्वनि जब सुनाई न दे तो यह समझ लेना याहिये कि मृत्यु निकट है। प्राय: कान बन्द कर लेने पर भीतर की ध्वनि सबको सुनाई पड़ती है किन्तु जिसका मरण निकट आया हुआ होता है उसे सुनाई नहीं देती है। यही सुनाई न देना आध्यात्मिक अरिष्ट है। इसी प्रकार नेत्र बन्द करने पर भीतर की ज्योति का दिखाई न देना भी मृत्यु का सूचक चिह्न है। नेत्रों को अच्छी प्रकार हाथों से ढक लेने पर अग्निकण के समान अन्दर की ज्योति

सबको दृष्टिगत होती है। किन्तु जिसकी मृत्यु निकट होती है उसे दिखाई नहीं देती। इस प्रकार यह दोनों अरिष्ट आध्यात्मिक हैं।

*** आधिभौतिक अरिष्ट-**

जब कभी अकस्मात् यमदूत दिखाई देने लगें तथा मृत पिता, पितामह तथा प्रपितामह दिखाई देने लगें तो इससे सन्निहित मृत्यु का ज्ञान होता है। यमदूत तथा पितरों का दिखाई देना स्वप्न में ही नहीं अपितु कभी-कभी जागते हुए भी होता है। इससे जान लिया जाता है कि मृत्यु निकट ही है। यह आधिभौतिक अरिष्ट है।

***आधिदैविक अरिष्ट**

अकस्मात् स्वर्ग का दर्शन होना किसी देवता अथवा सिद्धों का दिखाई देना भी मृत्यु का सूचक चिह्न है। यह आधिदैविक अरिष्ट है। इसके अतिरिक्त सब कुछ विपरीत दिखाई देना भी मृत्यु का सूचक चिह्न है। जैसे - मृत्युलोक को स्वर्ग समझना, अच्छी बात का बुरा लगना, प्रकृत्ति का बदल जाना, अकस्मात् बुरे आदमी का सदाचारी हो जाना, कृपण व्यक्ति का उदार हो जाना भी आधिदैविक अरिष्ट है। इन्हें देखकर यह जान लिया जाता है कि इस व्यक्ति की मृत्यु निकट ही है।

यद्यपि अरिष्टों से मृत्यु का ज्ञान अयोगी को भी होता है तथापि परोक्षात्मक सन्दिग्ध ज्ञान होता है और योगी को अपरोक्षात्मक निश्चित ज्ञान होता है। दोनों में इतनी विशेषता है।

7. मैत्र्यादिबलप्राप्ति

मैत्री, करुणा तथा मुदिता विषयक संयम करने से क्रमशः मैत्रीबल, करुणाबल तथा मुदिताबल की प्राप्ति होती है। यही बात सूत्रकार कह रहे हैं-

मैत्र्यादिषु बलानि। योगसूत्र 3/23

प्रथम पाद में कहा गया है कि मैत्री, करुणा तथा मुदिता की भावना से चित्तप्रसादरूप फल प्राप्त होता है। उसमें विशेष संयम करने से मैत्रीबल, करुणाबल तथा मुदिताबल की प्राप्ति होती है। उपेक्षा में संयम नहीं किया जाता, क्योंकि यह भावना नहीं है अपितु पापशील पुरुषों से उदासीनता है। यह तो भावना का त्याग है। इसलिये उससे उपेक्षाबल की प्राप्ति नहीं होती।

8. हस्त्यादिबलप्राप्ति

बलेषु हस्तिबलादीनि । - योगसूत्र 3/24

हस्ती, गरुड, वायु, सिंह आदि के बल में संयम करने से योगी को हस्ती , गरुड, वायु, सिंह आदि के बल के समान शारीरिक बल प्राप्त होता है।

9. **सूक्ष्मव्यवहित विप्रकृष्ट ज्ञान**

ज्योतिष्मती नामक मन की प्रवृत्ति में संयम करने से योगी को परमाणु आदि सूक्ष्म पदार्थों का, भूमि आदि में छिपे हुए रत्नादि का तथा सुमेरू पर्वत के उस पार विप्रकृष्ट निखिल पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है।

ज्योतिष्मती प्रवृत्ति का विवेचन पहले किया जा चुका है। हृदयकमल में धारणा करने से चित्त का साक्षात्कार होता है। यह चित्त प्रकाशरूप तथा आकाश के समान व्यापक और निर्मल है। चित्त का वह साक्षात्कार ही ज्योतिष्मती विशोका प्रवृत्ति कहलाती है। ज्योतिष्मती प्रवृत्ति के आलोक में संयम करने से योगी को ऐसा ज्ञान प्राप्त होता है कि जिससे वह अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थों को भी देख सकता है। धरती के अन्दर क्या छिपा हुआ है यह भी देख सकता है तथा दूरस्थ पदार्थों को भी पास में स्थित-सा देख सकता है।

प्रवृत्त्यालोकन्यासात्सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम्। - योगसूत्र 3/25

10 **भुवनज्ञान**

भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्।- योगसूत्र 3/26

सूर्य में संयम करने से योगी को सकल भुवनों का ज्ञान हो जाता है। यह भुवनज्ञान एक विभूति है।

ब्रह्माण्ड में इतने लोक-लोकान्तर हैं जिनकी गणना भी नहीं की जा सकती, उनके विस्तार को जानना बहुत दूर की बात है। भू ,भूवः ,स्वः ,मह, जन, तप और सत्यलोक ये सात उर्ध्वलोक हैं। अतल, वितल, सुतल, तलातल, रसातल, महातल और पाताल ये सात अधोलोक हैं। इसमें अवीचि, महाजाल, अम्बरीष, रौरव, महारौरव, कालसूत्र तथा अन्धतामिस्र नामक सात महानरकलोक हैं। इनमें अनन्त ग्रह-नक्षत्र-तारागण हैं। इनके अनन्त विस्तार को जानना साधारण मनुष्यों के वश की बात नहीं। यदि प्रकाशमय सूर्य में धारणा,ध्यान तथा समाधि लगायी जाए तो इससे समस्त भुवनों का ज्ञान हो सकता है।

11 **ताराव्यूहज्ञान**

चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम् ।- योगसूत्र 3/27

चन्द्रमा में संयम रखने से नक्षत्रों के विशिष्ट सन्निवेश तथा उनके विस्तार का ज्ञान होता है।

12 **तारागतिज्ञान**

ध्रुवे तद्गतिज्ञानम्। - योगसूत्र 3/28

ध्रुव नामक निश्चल ज्योति में संयम करने से समस्त ताराओं की गति का ज्ञान योगी को हो जाता है। अर्थात् यह तारा या यह ग्रह अमुक राशि

पर तथा अमुक नक्षत्र पर जायेगा इस प्रकार कालसहित उनकी गति का ज्ञान ध्रुव नक्षत्र में संयम करने से योगी को होता है।

13. **कायव्यूहज्ञान**

नाभिचक्र में संयम करने से योगी को शरीर में स्थित वातादि दोष तथा त्वक् आदि धातुओं के समूह का ज्ञान होता है।

शरीर में तीन दोष हैं-वात, पित्त तथा श्लेष्मा। सात धातुएँ हैं - त्वक्, लोहित, मांस , स्नायु, अस्थि, मज्जा तथा वीर्य। इन सबके विन्यास का ज्ञान योगी को नाभिचक्र में संयम करने से होता है।

14. **क्षुत्पिपासानिवृत्ति**

कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः। योगसूत्र 3/30

कण्ठकूप में संयम करने से योगी भूख और प्यास से रहित हो जाता है अर्थात् बिना कुछ खाये-पिये ही वर्षों तक जीवित रह सकता है।

जिह्वा के नीचे एक तन्तु है उस तन्तु के नीचे का भाग कण्ठ है। उस कण्ठ के नीचे जो एक गर्ताकार स्थान है उसे कण्ठकूप कहते हैं। उस कण्ठकूप में प्राण का स्पर्श होने से भूख और प्यास लगती है। जब उसमें संयम किया जाता है तो प्राण का स्पर्श कण्ठकूप में नहीं होता। उससे योगी की क्षुधा और पिपासा की निवृत्ति हो जाती है।

15. **स्थिरता की प्राप्ति**

कूर्मनाड्यां स्थैर्यम्। - योगसूत्र 3/31

कण्ठकूप के नीचे एक कच्छप के आकार वाली नाडी है। उसमें संयम करने से योगी का शरीर और चित्त स्थिरता को प्राप्त करता है। अर्थात् उसके शरीर को और चित्त को कोई भी शक्ति हिला नहीं सकती।

16. **सिद्धदर्शन**

मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम्। - योगसूत्र 3/32

मस्तक के कपाल के मध्य में एक ब्रह्मरन्ध्र नामक छिद्र है। उसके साथ सुषुम्ना नाडी का तथा हृदयस्थ चित्तमणिप्रभा का सम्बन्ध होने से वह भास्वररूप है। उसको मूर्धज्योति कहते हैं। उसमें संयम करने से आकाश और पृथिवी के मध्यम में विचरण करने वाले अदृश्य दिव्य सिद्ध पुरूषों का दर्शन तथा उनके साथ सम्भाषण करने की योग्यता योगी को प्राप्त होती है।

17. त्रैकालिक पदार्थज्ञान

प्रतिभा अर्थात् तर्कनारूप ज्ञान में संयम करने से योगी को जो ज्ञान प्राप्त होता है वह प्रातिभज्ञान कहलाता है। यह ज्ञान चूँकि संसारसागर से पार उतारने वाला है अतः इसे तारकज्ञान भी कहते हैं। यह तारकज्ञान विवेकज्ञान का पूर्वरूप है। जैसे उदयाभिमुख सूर्य की प्रभा सूर्य का पूर्वरूप होती है वैसे ही प्रातिभज्ञान विवेकजन्य ज्ञान का पूर्वरूप है। उस प्रातिभज्ञान की प्राप्ति होने पर योगी को भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान तीनो कालों के पदार्थां का साक्षात्कार होता है। सूत्रकार यही बात कह रहे हैं-

प्रातिभाद् वा सर्वम्।- योगसूत्र 3/34

18. चित्तसंवित्

हृदये चित्तसंवित्। - योगसूत्र 3/34

हृदय में संयम करने से योगी को चित्त का साक्षात्कार होता है। यह शरीर वस्तुतः आत्मा और परमात्मा का निवास स्थान है। इस शरीर में पुण्डरीकाकार गर्त है जिसे हृदय कहते हैं। उसमें चित्त का निवास है। उस हृदय में संयम करने से योगी को अपने और दूसरे के चित्त का ज्ञान हो जाता है। अर्थात् वह यह जान जाता है कि चित्त में इस समय कौन सी वासना है तथा इस पुरुष का राग किस विषय में है।

19. पुरुषज्ञान

सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासंकीणयोः प्रत्ययविशेषो
भोगः परार्थात् स्वार्थसंयमात् पुरुषज्ञानम्। योगसूत्र 3/35

सत्त्वप्रधान प्रकृति का प्रकाशसुखात्मक जो बुद्धिरूप परिणाम है उसे सत्त्व कहते हैं तथा चेतन आत्मा पुरुष कहा जाता है। बुद्धि जड़ है अतः उसमें जडत्व धर्म रहता है। पुरुष चेतन है अतः उसमें चेतनत्व धर्म रहता है। इस प्रकार बुद्धि और पुरुष अत्यन्त भिन्न स्वभाव वाले हैं अतः दोनों पृथक्-पृथक् हैं एक नहीं। फिर भी अविवेक के कारण दोनों का अभेदरूप से ऐक्यज्ञान होता है। इसी ऐक्यज्ञान को भोग कहते हैं। सुख-दुःख के साक्षात्कार का नाम ही तो भोग है। वे सुख-दुःख बुद्धि के धर्म हैं। बुद्धि के साथ पुरुष का तादात्म्याध्यास होने से पुरुष बुद्धिगत सुख-दुःख को अपने में मानकर "मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ" इस प्रकार का अभिमान करता है। यही पुरुष में भोग कहा जाता है। यह

बुद्धिगत होते हुए पुरुष के लिये होने से परार्थ है। इस भोगरूप प्रत्यय से अतिरिक्त जो केवल चेतनरूप पुरुष को आलम्बन करने वाला पौरुषेय बोधरूप बुद्धि का धर्म है वह स्वार्थप्रत्यय कहा जाता है। उस स्वार्थप्रत्यय में संयम करने से पुरुष का साक्षात्कार रूप ज्ञान होता है।

यह पुरुषज्ञानरूप विभूति पूर्वोक्त अन्य विभूतियों से उत्कृष्ट है क्योंकि योगसाधना का वास्तविक लक्ष्य यही है।

20. प्रातिभ, श्रावण, वेदन, आदर्श, आस्वाद, तथा वार्ताज्ञान

पूर्वोक्त स्वार्थ संयम के दो फल हैं- एक मुख्य और दूसरा गौण। मुख्य फल तो पुरुषदर्शन ही है। गौण फल छः प्रकार की सिद्धियाँ हैं। ये हैं-प्रातिभ, श्रावण, वेदन, आदर्श, आस्वाद तथा वार्ता।

प्रातिभ मानस सिद्धि है। इसके सामर्थ्य से योगी को सूक्ष्म व्यवहित तथा दूरदेशस्थ पदार्थों का तथा भूत, वर्तमान और भविष्यत्कालिक पदार्थों का साक्षात्कार होता है।

श्रावण सिद्धि में योगी की श्रोत्रेन्द्रिय दिव्य हो जाती है जिससे वह देवताओं से श्रवण करने योग्य दिव्य शब्दों को सुन सकता है।

वेदन नामक सिद्धि से त्वगिन्द्रिय दिव्य हो जाती है जिससे वह योगी देवताओं के भोगने योग्य दिव्य स्पर्श प्राप्त कर लेता है।

दिव्यरूप का ज्ञान आदर्श सिद्धि है। इस सिद्धि से योगी के नेत्र दिव्य हो जाते हैं जिससे वह दिव्य रूप का साक्षात्कार करता है।

आस्वाद सिद्धि से रसनेन्द्रिय दिव्य होती है और वार्त्ता नामक सिद्धि से घ्राणेन्द्रिय दिव्य हो जाती है जिससे योगी को देवताओं के भोगने योग्य दिव्य , गन्ध का विशेष ज्ञान होता है। ये छः सिद्धियाँ स्वार्थसंयम की आनुषंगिक सिद्धियाँ हैं।

वस्तुतः उपर्युक्त प्रातिभादि सिद्धियाँ केवल व्युत्थानकाल में ही सिद्धियाँ कहलाती हैं। समाधि में तो ये विघ्नरूप ही हैं। समाहितचित्त योगी के लिये इनका कोई महत्त्व नहीं ।

21. परकायप्रवेश

दूसरे के शरीर में चित्त का प्रविष्ट हो जाना एक अद्भुत विभूति है एक सिद्ध योगी किसी कार्य की सिद्धि के लिये कुछ कालपर्यन्त दूसरों के शरीर में प्रवेश कर लेता है। कहते हैं आचार्य शंकर ने भी मण्डन मिश्र की पत्नी के प्रश्नों का उत्तर जानने के लिये गोप्य रहस्यों के परिज्ञान के लिये

किसी मृत राजा की काया में प्रवेश किया था। यह परकायप्रवेश किस प्रकार सम्भव है, इसका उत्तर महर्षि पतञ्जलि इस सूत्र द्वारा दे रहे हैं-

बन्धकारणशैथिल्यात् प्रचारसंवेदनाच्च
चितस्य परशरीरावेशः। योगसूत्र 3/38

अर्थात् यदि बन्धन का कारण शिथिल हो जाये और चित्त की गति का ज्ञान हो जाये तो चित्त दूसरे किसी भी प्राणी के शरीर में प्रवेश कर सकता है। बन्धन का कारण है धर्माधर्म । जब तक इनमें बन्धन करने की शक्ति विद्यमान रहती है तब तक पुरुष और चित्त स्वतन्त्र होकर अन्यत्र गमन करने में असमर्थ रहते हैं। जब योगी उक्त धर्माधर्म में संयम करके इन दोनों को शिथिल कर देता है तब प्रतिबन्ध का अभाव हो जाने से पुरुष और चित्त स्वतन्त्रतापूर्वक जीवित वर्तमान शरीर में से निकलकर अन्य शरीर में प्रवेश करने के लिये समर्थ हो जाते हैं। किन्तु इनका सामर्थ्य प्राप्त होने पर भी जब तक यह ज्ञान न हो जाये कि कौन सी नाडी चित्तवहा है। तब तक चित्त का परशरीर में प्रवेश असम्भव है। अतः नाडीसंयम के द्वारा चित्तप्रचार वाली नाडी का ज्ञान होना भी योगी को आवश्यक है। इसलिये सूत्रकार ने कहा है कि बन्धकारण की शिथिलता होने पर तथा चित्त की गति का ज्ञान होने पर चित्त का अन्य शरीर में प्रवेश होता है।

इस प्रकार धर्माधर्म में संयम तथा नाडीसंयम दोनों संयम मिलकर परकायप्रवेश में हेतु है एक, एक नहीं। चित्त के साथ योगी की इन्द्रियाँ भी साथ ही निकल जाती हैं। जैसे मधुमक्खियाँ मधुकरराज के पीछे-पीछे चलती हैं उसी प्रकार इन्द्रियाँ भी चित्त का अनुगमन करती हैं।

22. जल, पंक और कण्टक पर स्वच्छन्द गमन

हमारा समस्त जीवन पाँच प्राणों पर स्थिर है- प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान। मुख और नासिका द्वारा गमन करने वाला , तथा नासिका के अग्रभाग से आरम्भ कर हृदयपर्यन्त कार्य करने वाला जो वायु है वह प्राण है। हृदय से आरम्भ कर नाभिपर्यन्त रहने वाला वायु समान कहलाता है क्योंकि खाये और पिये हुए अन्नजल के रस को अपने-अपने स्थानों में समान रूप से प्राप्त कराता है। नाभि से प्रारम्भ कर चरणतलपर्यन्त जो जीवनवृत्तिविशेष है वह अपान कहलाता है क्योंकि यह मूत्र, पुरीष , गर्भादि को बाहर निकालता है। नासिका के अग्रभाग से लेकर शिरःपर्यन्त जो वायु रहता है वह उदान कहलाता है क्योंकि यह रसादि को ऊपर ले जाता है तथा जो वायु समस्त देह में रहता है वह व्यान कहलाता है।

इन पंचप्राणों में उदानविषयक संयम करने से योगी जल, पंक तथा कण्टक की तीक्ष्णधार पर भी चले तो जल, पंक तथा कण्टक के साथ उसका सम्बन्ध नहीं होता।

इसी उदान के संयम से योगी देहत्याग के समय देवयान मार्ग के द्वारा ब्रह्मलोक में प्रस्थान करता है। वह भीष्मपितामह के समान स्वेच्छा से प्राणों का उत्क्रमण कर सकता है। यही बात सूत्रकार कह रहे हैं-

उदानजयाज्जलपंककण्टकादिष्वसंग उत्क्रान्तिश्च ।- योगसूत्र 3/39

23. ज्वलनसिद्धि

समानजयाज्ज्वलनम् - योगसूत्र 3/40

ज्वलन का अर्थ है-शरीर का तेजस्वी होना। यदि योगी समान नामक प्राण में संयम करे तो उसका शरीर सूर्य के समान कान्तिमान् होता है।

भाव यह है कि समान वायु जठराग्नि को घेर कर स्थित रहती है। समानवायु से आवृत होकर जठराग्नि का तेज मंद पड़ जाता है जब समान वायु में संयम किया जाता है तो जठराग्नि आवरणहीन हो जाती है। आवरणहीन जाठराग्नि योगी के देह को तेजस्वी बना देती है।

24. दिव्यश्रोत्र

श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धसंयमाद् दिव्यं श्रोत्रम्। - योगसूत्र 3/41

समस्त श्रोत्रेन्द्रियों का तथा समस्त शब्दों का आधार आकाश है। उस श्रोत्र और आकाश के सम्बन्ध में संयम करने से योगी की श्रोत्रेन्द्रिय दिव्य हो जाती है जिससे वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म शब्द का भी श्रवण कर सकता है।

25. आकाशगमन

शरीर का आकाश के साथ व्याप्यव्यापक सम्बन्ध है। जहाँ शरीर है वहाँ आकाश है क्योंकि आकाश ही अवकाश देता है। अर्थात् जिस-जिस स्थान में शरीर की स्थिति होती है उस-उस स्थान में सर्वत्र आकाश भी विद्यमान रहता है, क्योंकि अवकाश के बिना शरीर का स्थित रहना असम्भव है और अवकाश देना आकाश का ही धर्म है। अत: आकाश को छोड़कर शरीर का रहना सम्भव नहीं है। इस प्रकार 'यत्र शरीरं तत्राकाश:' ऐसा शरीर और आकाश का व्याप्यप्यापकभाव सम्बन्ध सिद्ध होता है। उस व्याप्यव्यापकभाव सम्बन्ध में संयम करने से योगी को आकाश में चलने की शक्ति प्राप्त होती है।

इसी प्रकार सूक्ष्म रुई आदि पदार्थों में संयम करने से गुरुत्वयुक्त योगी का शरीर इतना हलका हो जाता है कि वह जल के ऊपर पैरों से चल सकता है, मकड़ी के जाने पर भी विहार कर सकता है, सूर्य की किरणों में प्रवेश करके स्वच्छन्द विहार कर सकता है तथा आकाश में गमन कर सकता है। यही बात इस सूत्र में कही गई है-

कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमाल्लघुतूल-
समापत्तेश्चाकाशगमनम्। - योगसूत्र 3/42

25 **प्रकाशावरणक्षय**

प्रकाशरूप बुद्धि को आवृत करने वाले क्लेश कर्म और विपाक का क्षय होना एक अत्यन्त दुर्लभ सामर्थ्य है। महाविदेहा नामक धारणा पर विजय प्राप्त करने से यह सामर्थ्य प्राप्त होता है। यह महाविदेहावृत्ति क्या है? इसको समझ लेने के पश्चात् ही इस प्रकाशावरणयक्षय विभूति को प्राप्त किया जा सकता है।

शरीर से बाहर किसी विषय में चित्त का संयम करना विदेहा नामक धारणा कहलाती है। यह विदेहा धारणा दो प्रकार की है- कल्पिता तथा अकल्पिता। जब मन तो शरीर में रहता है तथा उसकी वृत्ति बाह्य देशों में स्थित होती है तो यह धारणा कल्पिता होती है क्योंकि चित्त कल्पनारूप वृत्ति द्वारा बहिर्देश में स्थित होता है किन्तु जब मन शरीर की अपेक्षा न करके शरीर से बाहर निकल कर वृत्तिलाभ करता है तो यह धारणा अकल्पिता कहलाती है। यह अकल्पिता धारणा ही महाविदेहा है। कल्पिता धारणा ही निरन्तर अभ्यास से महाविदेहा धारणा बन जाती है। अर्थात् कल्पिता धारणा अकल्पितारूप महाविदेहा वृत्ति की पूर्वभूमि है।

इस महाविदेहा धारणा के दो फल हैं- एक तो योगी इस महाविदेहा वृत्ति से अन्य के शरीर में प्रवेश करके इच्छानुसार व्यवहार करता है। दूसरा फल यह है कि बुद्धि के क्लेश कर्म और विपाक ये जो तीन आवरण हैं इनका क्षय हो जाता है। इसी का नाम प्रकाशावरणक्षय विभूति है-

बहिरकल्पितावृत्तिर्महाविदेहा ततः
प्रकाशावरणक्षयः। योगसूत्र 3/43

26. **भूतजय**

पंचमहाभूतों पर विजय प्राप्त कर लेना भी एक विभूति है। भूतजय का अर्थ है कि पाँच महाभूतों का स्वभाव योगी की इच्छानुसार बदल जाता है। यह कैसे होता है? इसका निरूपण सूत्रकार करते हैं।-

स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद् भूतजयः। योगसूत्र 3/44

पृथिवी, जल, वायु, अग्नि और आकाश इन पाँच महाभूतों की पाँच अवस्थायें हैं- स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय और अर्थवत्त्व। जैसे पृथिवी आदि भूतों के जो आकारादि धर्मविशेष हैं यह उनका स्थूलरूप है। भारीपन, रूखापन आदि पृथिवी का स्थूलरूप है। चिकनाई सूक्ष्मता शुक्लता आदि जल का स्थूलरूप है। ऊपर की ओर गति करना, पकाना, जलाना आदि अग्नि का स्थूलरूप है। तिरछा चलना, पवित्रता आदि वायु का स्थूल रूप है। अवकाश देना आकाश का स्थूल रूप है। यह स्थूलता भूतों का प्रथम रूप है।

उक्त भूतों का जो अपना-अपना सामान्य धर्म है वह उनकी स्वरूपावस्था है। जैसे कठिनता पृथिवी का सामान्य धर्म है। स्नेह धर्म जल का स्वरूप है। उष्णता अग्नि का स्वरूप है। वहनशीलता वायु का स्वरूप है। तथा सर्वत्र विद्यमानता आकाश का स्वरूप है। यह भूतों का द्वितीय रूप है।

भूतों का सूक्ष्म रूप तन्मात्र हैं। गन्धतन्मात्र पृथिवी का सूक्ष्मरूप है, रसतन्मात्र जल का सूक्ष्मरूप है। रूपतन्मात्र अग्नि का,स्पर्शतन्मात्र वायु का तथा शब्दतन्मात्र आकाश का सूक्ष्मरूप है। यह सूक्ष्मता भूतों का तृतीय रूप है।

पाँच भूतों का चतुर्थ रूप है- अन्वय। पंचभूतों में अनुगत जो सत्त्व, रजस् तथा तमस् ये तीन गुण हैं ये अन्वय कहलाते हैं। सत्त्वगुण प्रकाशशील है। रजोगुण क्रियाशील है तथा तमोगुण स्थितिशील है। ये तीनों गुण सब भूतों में अनुगत होने से अन्वय कहलाते हैं। यह भूतों का चतुर्थ रूप है।

अर्थवत्त्व भूतों का पाँचवा रूप है। अर्थवत्त्व का अर्थ है प्रयोजन। भूतों का प्रयोजन है पुरुष के लिये भोग और मोक्ष प्रदान करना। तीनों गुणों का भी यही प्रयोजन है। त्रिगुणात्मक प्रकृति पंचभूतों के माध्यम से ही पुरुष के लिये भोग और मोक्ष प्रदान करती है। यह अर्थवत्ता भूतों का पाँचवा रूप है।

भूतों के उपर्युक्त पाँच रूपों में संयम करने से योगी भूतजय सिद्धि प्राप्त करता है। समस्त भूतों का स्वभाव योगी के संकल्पानुसार हो जाता है।

27 अणिमादि अष्ट सिद्धियाँ

भूतों के उक्त पाँच रूपों में संयम करने से भूतजय सिद्धि प्राप्त होने पर उसके साथ अणिमादि आठ सिद्धियाँ प्राप्त होती है। ये आठ सिद्धियाँ इस प्रकार हैं- अणिमा, लघिमा, महिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, वशित्व, ईशितृत्व तथा यत्रकामावसायित्व। इनका संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है-

क- अणिमा - अणिमा सिद्धि वह कहलाती है कि जिसकी प्राप्ति होने पर योगी महत्परिमाण वाला होते हुए भी अणु परिमाण वाला हो जाता है। वह चाहे तो सूक्ष्मस्थान से भी निकल कर इधर-उधर आ-जा सकता है।

ख- लघिमा - लघिमा का अर्थ है भारहीन हो जाना। इसकी प्राप्ति होने पर योगी तृणादि के समान आकाश में भ्रमण करने योग्य हो जाता है।

ग- महिमा - इसकी प्राप्ति होने पर योगी अणुपरिमाणवाला होते हुए भी हाथी, पर्वत तथा नगर के समान महत्परिमाण वाला हो जाता है।

घ- प्राप्ति - प्राप्ति नामक सिद्धि वह है जिसकी प्राप्ति होने पर योगी पृथिवी पर स्थित हुआ भी अंगुलि के अग्रभाग से चन्द्रमा का भी स्पर्श का सकता है।

ङ- प्राकाम्य - प्राकाम्य का अर्थ है इच्छा का अभिघात न होना। इस सिद्धि को प्राप्त करके योगी जो कुछ चाहता है वह सब कुछ प्राप्त कर लेता है। जैसे साधारण पुरुष जल में डूबकर फिर बाहर निकल आता है वैसे ही योगी पृथिवी का उद्भेदन करके उसमें से बाहर निकल आता है और जल के समान पृथिवी में भी गोता लगा सकता है।

च- वशित्व - वशित्व सिद्धि के प्रभाव से योगी भूत तथा भौतिक पदार्थों में स्वतन्त्र हो जाता है। अर्थात् सब पदार्थ इस योगी के अधीन हो जाते हैं। वह अन्य को तो अपने वश में कर लेता है किन्तु स्वयं किसी के वश में नहीं होता।

छ- ईशितृत्व - ईशितृत्व सिद्धि वह कहलाती है जिसकी प्राप्ति होने पर योगी उन भूत भौतिक पदार्थों की उत्पत्ति, स्थिति तथा संहार रूप कार्य करने में समर्थ हो जाता है। जैसे विश्वामित्र ने त्रिशंकु के लिये अलग स्वर्ग रचा था।

ज- यत्रकामावसायित्व - कामावसायित्व का अर्थ है सत्यसंकल्पता, अर्थात् जैसा इस योगी का संकल्प होता है वैसा ही भूतों के स्वभाव का अवस्थान हो जाता है। अर्थात् जिस प्रयोजन के लिये जो-जो संकल्प योगी करता है उस-उस पदार्थ की शक्ति का विपर्यास वैसा ही हो जाता है। इसके प्रभाव से यदि योगी चाहे तो अमृत के स्थान पर विषभोजन कराकर पुरुष को जीवित कर सकता है।

यहाँ विशेषरूप से ध्यान देने योग्य बात यह है कि योगी किसी पदार्थ की शक्ति का ही विपर्यास करता है पदार्थ का विपर्यय नहीं करता। यद्यपि वह पदार्थ का विपर्यास करने में समर्थ है किन्तु करता नहीं है। विष में जो मारने की शक्ति है और अमृत में जो जिलाने की शक्ति है उसका तो योगी विपर्यास कर देता है किन्तु विष को अमृत और अमृत को विष नहीं करता। सूर्य को

चन्द्र और चन्द्र को सूर्य नहीं करता। ऐसा वह इसलिये नहीं करता क्योंकि समस्त पदार्थों में नित्यसिद्ध परमेश्वर का संकल्प पहले से ही नियत है। सूर्य सूर्य ही रहे, चन्द्र नहीं और चन्द्र चन्द्र ही रहे, सूर्य नहीं; इस प्रकार का संकल्प समस्त भूत-भौतिक पदार्थों में पहले से ही नियत है। यदि योगी पदार्थों का विपर्यास करेगा तो यह बात परमेश्वर के संकल्प के विरुद्ध होगी। इसलिये योगी पदार्थ की शक्ति का ही विपर्यास करता है पदार्थ का नहीं।

पदार्थों की शक्ति पदार्थों में परमेश्वर के संकल्प से नियत नहीं है अपितु जाति, देश, काल तथा अवस्थाभेद से अनियत है। उसका विपर्यास होना परमेश्वर के संकल्प के विरूद्ध नहीं है। अतः उसका विपर्यास योगी कर सकता है यही बात भाष्यकार इन शब्दों से कह रहे हैं-

न च शक्तोऽपि पदार्थविपर्यासं करोति। कस्मात्?
अन्यस्य यत्र कामावसायिनः पूर्वसिद्धस्य तथा
भूतेषु संकल्पादिति। व्यासभाष्य 3/45

उपर्युक्त अणिमादि आठ सिद्धियों को आठ ऐश्वर्य कहा जाता है। भूतजय के पश्चात् ये आठ ऐश्वर्य योगी को प्राप्त होते हैं।

28 **कायसम्पत्**

भूतजय के पश्चात् कायसम्पत् नामक विभूति भी योगी को प्राप्त होती है। कायसम्पत् का अर्थ सूत्रकार ने इस प्रकार किया है-

रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वनि कायसम्पत्। योगसूत्र 3/46

अर्थात् कायसम्पत् नामक सिद्धि वह कहलाती है जिसकी प्राप्ति होने पर योगी का शरीर दर्शनीय रूपवाला, कान्तिवाला, बलवाला तथा वज्रसदृश कठोर अवयवों वाला हो जाता है।

29 **अभिघाताभाव**

इस विभूति को सूत्रकार ने तद्धर्मानभिघात कहा है। इस विभूति की प्राप्ति होने पर भूतों के धर्म योगी की क्रिया का अभिघात नहीं करते हैं। अर्थात् पृथिवी अपनी कठिनता से योगी के शरीरादि की क्रिया को रोक नहीं सकती है। वह शिला के भीतर भी प्रवेश कर सकता है। जल योगी को गीला नहीं कर सकता। अग्नि उसके शरीर को जला नहीं सकती। वायु उसके शरीर को कम्पित नहीं कर सकता तथा आकाश में स्थित योगी के शरीर को सिद्ध पुरुष भी देख नहीं सकते।

इस प्रकार पूर्वोक्त भूतों के पाँच रूपों में संयम करने से भूतजय सिद्धि

प्राप्त होने पर उपर्युक्त अणिमादि आठ सिद्धियाँ, कायसम्पत् तथा तद्ध र्मानभिघात सिद्धियाँ भी प्राप्त हो जाती हैं। यही बात सूत्रकार कह रहे हैं-

ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसम्पत्तद्धर्मानाभिघातश्च।

योगसूत्र 3/45

30 इन्द्रियजय

इन्द्रियों के पाँच रूप हैं- ग्रहण, स्वरूप,अस्मिता ,अन्वय तथा अर्थवत्त्व। इन पाँच रूपों में संयम करने से इन्द्रियजय रूप फल प्राप्त होता है। अर्थात् जैसे भूतों के स्थूलादि पाँच रूपों में संयम करने से भूतजय प्राप्त होता है वैसे ही इन्द्रियों के उक्त पाँच ग्रहणादि रूपों में संयम करने से इन्द्रियजय प्राप्त होता है। सूत्रकार कहते हैं-

ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमादिन्द्रियजयः।

योगसूत्र 3/47

शब्दादि तथा घटादि विषयों में जो इन्द्रियों की विषयाकार वृत्ति है उसका नाम ग्रहण है। अर्थात् शब्दादि तथा घटादि ग्राह्य हैं तथा विषयाकार वृत्ति ग्रहण है। यह इन्द्रियों का प्रथम रूप है।

प्रकाशरूपबुद्धि का कार्य है प्रकाशरूप अहंकार। उस प्रकाशरूप अहंकार का कार्य है प्रकाशरूप इन्द्रिय। यही इन्द्रिय का स्वरूप है। यह द्वितीय रूप है।

इन्द्रिय का कारण जो अहंकार है उसे अस्मिता कहते हैं। यह अस्मिता इन्द्रियों का तृतीय रूप है।

महत्तत्त्व अहंकार और इन्द्रियाँ ये सभी सत्त्वादि गुणों का परिणाम है।अतः सत्त्व, रजस् और तमस् ये तीनों गुण महत्तत्त्व अहंकार और इन्द्रियों में कारण रूप से अनुगत हैं। इसी का नाम अन्वय है। यह अन्वय इन्द्रियों का चतुर्थ रूप है।

पुरुष के लिये भोग तथा मोक्ष का सम्पादन करना इन्द्रियों का प्रयोजन है। सत्त्वादि गुणों में पुरुष के लिये भोग और मोक्ष का सम्पादन करने का जो सामर्थ्य है वही सामर्थ्य इन्द्रियों में भी है। यही प्रयोजन अर्थवत्व कहलाता है। यह इन्द्रियों का पाँचवां रूप है।

इन्द्रियों के उक्त पाँचों रूपों में संयम करने से उन-उन रूपों में जय प्राप्त करके योगी को इन्द्रियजयरूप फल प्राप्त होता है अर्थात् इन्द्रियाँ योगी के आधीन हो जाती हैं।

31 **मनोजवित्व**

पूर्वोक्त इन्द्रियजय सिद्धि प्राप्त होने पर तीन सिद्धियाँ और प्राप्त होती हैं। ये सिद्धियाँ है- मनोजवित्व, विकरणभाव तथा प्रधानजय। मनोजवित्व का अर्थ है मन के समान गतिमान् होना । यह सिद्धि प्राप्त होने पर योगी को अपने शरीर से भी मन के वेग के समान असंख्य योजन दूर तथा व्यवहित देश में शीघ्र गमन करने का सामर्थ्य प्राप्त होता है।यह सिद्धि शरीरनिष्ठ है।

32 **विकरणभाव**

विकरणभाव का अर्थ है -शरीर की अपेक्षा के बिना ही इन्द्रियों का गतियुक्त होना। जिस देश, काल तथा विषय में योगी की इच्छा होती है उनमें देह की अपेक्षा के बिना ही योगी की इन्द्रियों की गति हो जाती है जिससे वह काशी आदि स्थान में रहता हुआ भी प्रयागराज आदि देश में स्थित पुरुषों का नेत्रादि इन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्ष कर सकता है। उक्त इन्द्रियजय से ही यह सिद्धि प्राप्त होती है।

33 **प्रधानजय**

निखिल कारण तथा कार्य को वश में कर लेना प्रधानजय कहलाता है। अर्थात् संसार में जितने भी कारणकार्यात्मक पदार्थ हैं ये सब प्रधानजय सिद्धि प्राप्त होने पर योगी के अनुकूल हो जाते हैं।

ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च। योगसूत्र 3/48

समस्त योगसिद्धियों को चार भागों में वर्गीकृत किया जाता है- मधुमती, मधुप्रतीका, विशोका तथा संस्कारशेषा। मनोजवित्व, विकरणभाव तथा प्रधानजय ये तीन सिद्धियाँ मधुप्रतीका कहलाती हैं।

एतास्तिस्त्रः सिद्धयो मधुप्रतीका उच्यन्ते। - योगसूत्र 3/48

34 **सर्वभावाधिष्ठातृत्व**

जब योगी सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिरूप विवेकजन्य ज्ञान में प्रतिष्ठित हो जाता है तो उसे दो सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं- सर्वभावाधिष्ठातृत्व तथा सर्वज्ञातृत्व। जब योगी का चित्त मैत्री, करुणा आदि भावना के अनुष्ठान से रजस् और तमस् रूप मल से सर्वथा रहित हो जाता है। तब वह चित्त योगी के वश में हो जाता है उस समय योगी को निखिल पदार्थों के स्वामित्व का लाभ होता है। यही है सर्वभावाधिष्ठातृत्व।

सत्त्वपुरूषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च
योगसूत्र 3/49

35 सर्वज्ञातृत्व

उसी विवेकज्ञान में प्रतिष्ठित योगी को सर्वज्ञातृत्व का लाभ होता है। अर्थात् विवेकज्ञाननिष्ठ योगी को एक काल में ही त्रिगुणात्मक समस्त पदार्थों का यथार्थ साक्षात्कार हो जाता है। यह सर्वज्ञातृत्व सिद्धि विशोका कही जाती है। इस सिद्धि को प्राप्त करके योगी सर्वज्ञ, क्लेशरूप बन्धन से रहित तथा सबका स्वामी हो जाता है।

एषा विशोका नाम सिद्धिर्यां प्राप्य योगी
सर्वज्ञः क्षीणक्लेशबन्धनो वशी विहरति। व्यासभाष्य 3/49

जब उक्त विवेकख्याति में भी योगी को परवैराग्य हो जाने से दोषदर्शन होने लगता है तब उसे स्वरूपप्रतिष्ठानरूप कैवल्यपद की प्राप्ति होती है।

जात्यन्तरपरिणाम कैसे होता है?

पीछे सिद्धियों के निरूपण के प्रसंग में कहा गया है कि शिव की भक्ति से नन्दीश्वर मनुष्यदेह को त्यागकर देवभाव को प्राप्त हुआ था तथा महर्षि अगस्त्य के शाप से नहुष इन्द्रपद को त्यागकर सर्पयोनि को प्राप्त हुआ था। इसे ही जात्यन्तरपरिणाम कहते हैं। इसी प्रकार अणिमा सिद्धि के द्वारा शरीर अतिसूक्ष्म हो जाता है तथा महिमा सिद्धि के प्रभाव से शरीर अति महान् हो जाता है। यह भी जात्यन्तरपरिणाम ही है। यहाँ जिज्ञासा होती है कि यह जात्यन्तरपरिणाम किस प्रकार होता है? इसके उत्तर में सूत्रकार कहते हैं कि-

जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात्। - योगसूत्र 4/2

अर्थात् यह जात्यन्तरपरिणाम प्रकृत्यापूर से होता है। यह प्रकृत्यापूर क्या है? प्रकृत्यापूर का अर्थ है उपादान कारण के नूतन तथा स्वच्छ अवयवों का अनुप्रवेश । जब योगी पूर्व शरीर को छोड़ता है और नूतन शरीर धारण करता है तो उपादान कारण के नूतन तथा स्वच्छ अवयव उसके शरीर में प्रविष्ट हो जाते हैं।

जहाँ पर महिमा रूप सिद्धि के प्रभाव से योगी महान् हो जाता है वहाँ पर प्रकृति के अवयवों का उसके देह में प्रवेश होता है और जहाँ अणिमारूप

सिद्धि के प्रभाव से योगी अणु हो जाता है वहाँ प्रकृति के अवयव उसके शरीर से निकल कर बाहर चले जाते हैं। यही है प्रकृत्यापूर। इसी प्रकृत्यापूर से जात्यन्तरपरिणाम होता है। इस प्रकार महर्षि पतञ्जलि ने विभूतिपाद में उक्त विभूतियों का विवेचन करके योग के महत्त्व को प्रतिपादित किया है।

****

चतुर्थ अध्याय

योग के आठ अंग

महर्षि पतञ्जलि के अनुसार योग के आठ अंग हैं- यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा , ध्यान और समाधि। इन आठ अंगों में प्रारम्भ के पाँच अंग बहिरंग कहलाते हैं और पश्चात् के तीन अंग अन्तरंग कहलाते हैं। ये धारणा ध्यान तथा समाधिरूप तीन अंग भी असम्प्रज्ञात समाधि के बहिरंग कहलाते हैं। इस प्रकार असम्प्रज्ञात समाधि अंगी है और यमनियमादि उसके अंग हैं।

ये आठ अंग विवेकख्याति अर्थात् प्रकृति और पुरुष के भेदज्ञान की प्राप्ति के साधन हैं। विवेकख्याति से ही त्रिविधदु:खों का आत्यन्तिक नाश होता है। किन्तु उपर्युक्त योगांगों से साक्षात् विवेकख्याति की प्राप्ति नहीं होती अपितु योगांगों के अनुष्ठान से प्रथमत: अशुद्धि का क्षय होता है। अशुद्धि का क्षय जैसे-जैसे होता है वैसे-वैसे ज्ञान प्रदीप्त होता जाता है। यह ज्ञान की दीप्ति तब तक होती है जब तक विवेकख्याति का उदय नहीं होता है। जैसे ही विवेकख्याति का उदय होता है त्यों ही पुरुष से प्रकृति का सम्बन्ध समाप्त हो जाता है और तब पुरुष का स्वरूप में अवस्थान हो जाता है। यह स्वरूप में अवस्थिति ही कैवल्य कही जाती है।

आध्यात्मिक स्तर पर अविद्यादि पंचक्लेश तथा शुक्लकृष्णादि कर्मों को अशुद्धि कहा जाता है क्योंकि ये क्लेश और कर्म ही चित्त को मलिन करते हैं। योगांगों के अनुष्ठान से अशुद्धिका क्षय होने पर ही ज्ञान की दीप्ति होती है। सूत्रकार कह रहे हैं-

योगांगानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः।

योगसूत्र 2/28

निष्कर्ष यह हुआ कि योगांगों का अनुष्ठान अशुद्धि के वियोग का कारण है तथा विवेकख्याति की प्राप्ति का कारण है।

नौ कारण

योगदर्शन के अनुसार नौ प्रकार के कारण होते हैं-
1 उत्पत्तिकारण , 2 स्थितिकारण, 3 अभिव्यक्तिकारण, 4 विकारकारण, 5 प्रत्ययकारण, 6 प्राप्तिकारण, 7 वियोगकारण, 8 अन्यत्वकारण तथा 9 धृतिकारण।

उत्पत्तिकारण

जैसे भोजन शरीर की स्थिति का कारण है वैसे ही भोग और अपवर्ग रूप पुरुषार्थ मन की स्थिति का कारण है। भाव यह है कि भोजन शरीर को उत्पन्न नहीं करता अपितु शरीर को स्थित रखता है। उसी प्रकार भोगापवर्गरूप पुरुषार्थ मन को स्थित रखता है। जब तक भोग और अपवर्ग सिद्ध नहीं होते तब तक मन स्थित रहता है। जैसे ही यह पुरुषार्थ पूर्ण होता है तब मन भी स्थित नहीं रहता । वह प्रकृति में लीन हो जाता है।

अभिव्यक्तिकारण

किसी वस्तु को प्रकट करने वाला कारण अभिव्यक्ति कारण है। जैसे प्रकाश रूप की अभिव्यक्ति का कारण है। यद्यपि रूप की अभिव्यक्ति में चक्षु निमित्त है, तथापि अन्धकार में रूप की अभिव्यक्ति नहीं होती। अतः आलोक भी रूप का अभिव्यक्तिकारण है।

विकारकारण

वस्तु में परिवर्तन करने वाला विकारकारण होता है। जैसे अग्नि पकाने योग्य तण्डुल आदि के विकार का कारण है। इसी प्रकार विभिन्न विषय मन के विकार का कारण हैं।

प्रत्ययकारण

प्रत्यय का अर्थ है ज्ञान। धूम का ज्ञान अग्नि के ज्ञान का कारण है। अर्थात् जिसको यह ज्ञान है कि जहाँ धूम होता है वहाँ अग्नि होती है वह व्यक्ति धूम को देखकर यह समझ जाता है कि अग्नि वहाँ अवश्य होगी। इस प्रकार धूमज्ञान अग्निज्ञान का कारण है।

प्राप्तिकारण

अप्राप्तवस्तु को प्राप्त कराने वाला प्राप्तिकारण कहलाता है। जैसे योगांगो का अनुष्ठान विवेकख्याति की प्राप्ति का कारण है।

वियोगकारण

पृथक् करने वाला कारण वियोगकारण है। जैसे कुठार लकड़ी को दो भागों में वियुक्त कर देता है। अर्थात् एक भाग को दूसरे भाग से वियुक्त

करने वाला कुठार है। अतः कुठार वियोगकारण है।

अन्यत्वकारण

रूपपरिवर्तन के कारण को अन्यत्वकारण कहते हैं। जैसे सुनार सुवर्ण के अन्यत्व का कारण है। वह सुवर्ण का रूप बदलकर कटक-कुण्डलादि के आकार का बना देता है। इसी प्रकार एक ही स्त्री का ज्ञान विभिन्न कारणों से पुरुष को एक अन्य बना देता है। एक ही स्त्री का ज्ञान अज्ञानी पुरुष को मोहित बना देता है। इसमें अज्ञान अन्यत्व का कारण है। सौतन द्वेष से दुःखी होती है।इसमें द्वेष का कारण है। पति उस स्त्री के प्रति राग से सुखी होता है।तथा तत्त्वज्ञानी पुरुष उस स्त्री से उदासीन रहता है।इस प्रकार अविद्या , द्वेष,राग तथा तत्त्वज्ञान मूढत्व, दुःखत्व, सुखत्व, उदासीनतारूप अन्यत्व का कारण है।

धृतिकारण

धारण करने वाला धृतिकारण है। जैसे शरीर इन्द्रियों को धारण करने का कारण है। इन्द्रियाँ शरीर को धारण करने की कारण हैं। महाभूत उन समस्त शरीरों के धृतिकारण हैं।

इस प्रकार ये नौ ही कारण होते हैं। उनमें योगांगों का अनुष्ठान चित्त की अशुद्धि के वियोग का कारण है तथा विवेकख्याति का प्राप्तिकारण है। प्रकाशशील बुद्धि में विवेकख्याति तमोगुण के कारण रुक गई है। जब योगांगों के अनुष्ठान से उक्त तमोगुण का नाश हो जाता है तब विवेकख्याति की प्राप्ति हो जाती है।

उक्त नौ प्रकार के कारणों का उल्लेख भाष्यकार व्यासदेव ने योगभाष्य में इस प्रकार किया है।

उत्पत्तिस्थित्यभिव्यक्तिविकारप्रत्ययाप्तयः।
वियोगान्यत्वधृतयः कारणं नवधा स्मृतम्।। -व्यासभाष्य 2/28

विभिन्न यम-नियमों की अवधारणा एवं उद्देश्य सहित विस्तृत वर्णन

यम का स्वरूप

पूर्वोक्त योग के आठ अंगों में प्रथम अंग यम है। ये यम पाँच हैं- अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह। इन पाँचों को यम क्यों कहा जाता है? यह प्रश्न विचारणीय है। 'यमु' बन्धने धातु में 'घञ्' प्रत्यय लगाने

पर यम शब्द निष्पन्न होता है जिसका अर्थ है बाँधने वाला या नियन्त्रित करने वाला। चूँकि अहिंसादि यम मनुष्यों को नियन्त्रित करते हैं, उनके अशुभ व्यवहारों पर रोक लगाते हैं इसलिये इन्हें यम कहा जाता है। हिंसा, मिथ्याभाषण, चोरी, वीर्यनाश तथा अनुचित वित्तसंग्रह पर ये अंकुश लगाते हैं इसलिये इन्हें यम कहना सार्थक है।

यम और नियम में केवल 'नि' उपसर्ग का अन्तर है नि उपसर्ग नि:शेष का वाचक है। क्योंकि शौचादि नियम मनुष्य को सम्पूर्ण रूप से बाँध ते हैं तथा चित्त में अन्दर तक प्रविष्ट होकर मलों का क्षालन करते हैं इसलिये शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वरप्रणिधान को नियम कहा गया है। अमरकोष ने यम और नियम में इस प्रकार भेद किया है-

शरीरसाधनापेक्षं नित्यं यत्कर्म तद्यमः।
नियमस्तु स यत्कर्म नित्यमागन्तु साधनम्।।

अमरकोष 10/10

अर्थात् शरीररूप साधन की अपेक्षा रखने वाला कर्म यम है और शरीर के अतिरिक्त आगन्तुक साधनों की अपेक्षा रखने वाला कर्म नियम कहलाता है।

अमरकोष का आशय यह है कि हिंसा शरीर से की जाती है। असत्यभाषण वाणी से किया जाता है। चोरी हाथों से की जाती है। शिश्न से वीर्य का नाश किया जाता है तथा धन का संचय भी शरीर से ही किया जाता है। अत: शरीर पर बन्धन लगाकर ही अहिंसादि यमों का पालन किया जा सकता है। नियमों के लिये शरीर से भिन्न बाह्य साधन भी अपेक्षित हैं। जैसे शौच के लिये जलादि अपेक्षित है। सन्तोष के लिये अल्प धनाधान्य की आवश्यता है। तप के लिये अरण्य, पर्वत, नदीतट एकान्तस्थान, अग्नि जलादि की अपेक्षा होती है। स्वाध्याय के लिये पुस्तकों की अपेक्षा है तथा ईश्वरप्रणिधान के लिये गृहत्याग, जनसम्पर्क से दूरी तथा असत्पुरूषों का अभाव अपेक्षित है। यही यम और नियम में अन्तर है।

वस्तुत: उपर्युक्त यम और नियम का जो भेद बताया गया है वह आंशिकरूप से ही सत्य है, समग्ररूप से नहीं। यम और नियम दोनों के लिये शरीर और आगन्तुम साधन दोनों ही अपेक्षित हैं।

यमों की संख्या

महर्षि पतञ्जलि ने यमों की संख्या पाँच बतायी है- अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। अन्य ग्रन्थों में यमों की संख्या दस है तथा

उनके नाम भी पृथक् हैं। उनकी चर्चा भी हम करेंगे। सर्वप्रथम पतञ्जलि के द्वारा निर्दिष्ट यमों पर ही हम विचार करेंगे-

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः। योगसूत्र 2/30

अहिंसा का स्वरूप

सब प्रकार के सर्वकाल में समस्त प्राणियों से द्रोह न करना अहिंसा कहा गया है। अर्थात् मन से किसी का अनिष्ट चिन्तन, वाणी से कठोर बोलना तथा शरीर से किसी को ताडनादि द्वारा पीडा पहुँचाना हिंसा कहा जाता है। इसके विपरीत मन, वचन और कर्म से किसी प्राणी को पीडा न पहुँचाना अद्रोहरूप अहिंसा है।

समस्त योगांगो में अहिंसा ही प्रधान है। अहिंसा के आगे जितने भी यम और नियम हैं वे सब अहिंसामूलक ही हैं। अर्थात् वे सब अहिंसा के भाव को पुष्ट करने के लिये ही हैं। जैसे-जैसे सत्यादि यमों का तथा शौचादि नियमों का अनुष्ठान किया जाता है वैसे-वैसे अंहिसा निर्मल और पुष्ट होती जाती है। अतः अहिंसा का ज्ञान सर्वप्रथम आवश्यक है। यदि अहिंसा का ज्ञान नहीं होगा तो यम नियमादि का ज्ञान भी निष्फल है। अहिंसा का ज्ञान यमनियम के ज्ञान का कारण है तथा यमनियमादि का ज्ञान अहिंसा की पुष्टि में कारण है। अहिंसा की यही परिभाषा व्यासदेव ने कही है-

अहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः।
उत्तरे च यमनियमास्तन्मूलाः। तत्सिद्धिपरतयैव
तत्प्रतिपादनाय प्रतिपाद्यन्ते। व्यासभाष्य 2/30

सत्य का स्वरूप

सत्यं यथार्थे वाङ्मनसे। व्यासभाष्य 2/30

अर्थात् वाणी और मन की यथार्थता को सत्य कहते हैं। जैसा प्रत्यक्ष प्रमाणरूप इन्द्रियों से प्रत्यक्ष किया हो, जैसा तर्क से अनुमान किया हो और जैसा शास्त्र से सुना हो यदि वैसी ही मन और वाणी भी हो यह वाणी सत्य कही जाती है। यही मन और वाणी की एकरूपता है। जैसा मन में समझता हो यदि वैसी ही वाणी अन्य के प्रति बोली गई हो तो यह वाणी सत्य कही जाती है। मन में कुछ अन्य हो और वाणी से कुछ अन्य बोलता हो तो यह सत्य नहीं है। इसी बात को व्यासदेव स्पष्ट करते हैं-

परत्र स्वबोधसंक्रान्तये वागुक्ता सा यदि न
वञ्चिता भ्रान्ता वा प्रतिपत्तिवन्ध्या वा भवेदिति। व्यासभाष्य 2/30

अर्थात् अपने चित्त में जैसा बोध हो वैसा ही बोध उत्पादन करने के लिये जो वाणी उच्चरित हुई हो वह वाणी यदि वञ्चना करने वाली न हो, भ्रान्तिजनक न हो तथा बोध उत्पादन करने में असमर्थ न हो तो वह वाणी सत्य कही जाती है। अपने चित्त में जो इन्द्रियादिजन्य बोध है उससे अन्य प्रकार का बोध अन्य के चित्त में उत्पन्न करने के लिए वाक्य का उच्चारण किया गया हो तो यह सत्य नहीं है। जैसे आचार्य द्रोण ने युधिष्ठिर से पूछा कि हे सत्यवादिन् क्या अश्वत्थामा मारा गया? युधिष्ठिर ने उत्तर दिया - अश्वत्थामा हतः = अश्वत्थामा मारा गया। युधिष्ठिर का यह वाक्य सत्य नहीं था क्योंकि युधिष्ठिर के चित्त में इन्द्रियजन्यबोध यह था कि अश्वत्थामा हस्ती मारा गया किन्तु उसके वाक्य ने द्रोण के हृदय में यह बोध उत्पन्न किया कि अश्वत्थामा नामक आपका पुत्र मारा गया। युधिष्ठिर का यह वाक्य वंचनात्मक था। अतः यह सत्य नहीं था।

भ्रान्ति का जनक वाक्य तो सत्य होता ही नहीं यह बात तो लोक में प्रसिद्ध ही है। आर्यों के प्रति म्लेच्छों के वाक्य सत्य नहीं कहलाते क्योंकि म्लेच्छों के वाक्यों पर आर्यों की श्रद्धा नहीं होती, अतः म्लेच्छवाक्य बोध उत्पन्न करने में समर्थ नहीं है।

सत्य होने के लिये वाणी का अपकारमूलक न होना भी अनिवार्य है। भले ही वाणी वंचना न करती हो, भ्रान्त भी न हो तथा बोधजनक भी हो फिर भी यदि उस वाणी से किसी का अपकार हो रहा हो तो ऐसी वाणी यथार्थ होते हुए भी सत्य नहीं कहलाती। समस्त प्राणियों के उपकार के लिये वाणी का प्रयोग होना चाहिए प्राणियों की हिंसा या हानि के लिये नहीं। यदि वचन यथार्थ होकर भी प्राणियों का अपघातक है तो वह सत्य नहीं है अपितु उससे पाप ही होता है। उस पाप से वक्ता को नरक की ही प्राप्ति होती है। इसलिये वक्ता को अच्छी प्रकार परीक्षा करके प्राणिमात्र के लिए हितकर वाणी बोलनी चाहिये। इसलिये भगवान् मनु ने अप्रियसत्य बोलने का निषेध किया है-

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयात् एष धर्मः सनातनः॥ मनुस्मृति 4/138

इसी अभिप्राय से धर्मशास्त्रों में कहा गया है कि यदि मिथ्याभाषण से किसी के प्राणों की रक्षा होती हो तो उस मिथ्याभाषण से पाप नहीं होता-
प्राणत्राणेऽनृतं वाच्यमात्मनो वा परस्य च ॥

इस प्रकार निष्कर्ष हुआ कि सत्य वह वाणी है जो वंचना तथा भ्रान्ति को उत्पन्न न करे, स्वबोध के प्रतिपादन में समर्थ हो तथा सम्पूर्ण भूतों के

उपकार के लिये उच्चारित की गयी हो।

अस्तेय का स्वरूप

स्तेय के अभाव को अस्तेय कहते हैं। स्तेय का अर्थ चोरी है। शास्त्रोक्त विधि के बिना किसी अन्य के द्रव्यों का स्वीकार करना स्तेय कहलाता है। मन से भी अन्य के द्रव्य के ग्रहण करने की इच्छा का अभाव अस्तेय है। अर्थात् किसी अन्य के धन को हाथ से ग्रहण करना तो दूर, मन से भी ग्रहण करने की इच्छा के अभाव को अस्तेय कहते हैं।

भाष्यकार ने स्तेय का लक्षण किया है-

स्तेयमशास्त्रपूर्वकं द्रव्याणां परतः स्वीकरणम्। व्यासभाष्य 2/30

यहाँ अशास्त्रपूर्वक कहने का अभिप्राय यह है कि कहीं-कहीं शास्त्रों में परद्रव्य का स्त्रीकार करना उचित भी सिद्ध किया है जैसे प्राणरक्षा के लिये भिक्षा मांगना स्तेय नहीं है। यदि ब्राह्मण पौरोहित्य कर्म के बदले में दक्षिणा स्वीकार करता है तो यह भी स्तेय नहीं है। अन्याय से धनार्जन करना, बलात् धन लूटना तथा दाता की इच्छा के बिना ही उसकी वस्तुएँ उठा लेना अथवा गृहस्वामी की अनुपस्थिति में घर में प्रविष्ट होकर धन उठा लेना शास्त्रविरुद्ध कर्म है अतः यही स्तेय है। इसका प्रतिषेध अस्तेय है।

ब्रह्मचर्य का स्वरूप

ब्रह्मचर्य चतुर्थ यम है। भाष्यकार ने ब्रह्मचर्य की परिभाषा दी है-

गुप्तेन्द्रियस्योपस्थस्य संयमः।

ब्रह्म नाम वीर्य का है। उसकी रक्षा करना ब्रह्मचर्य है। यहाँ ब्रह्मचर्य का व्यापक अर्थ न लेकर केवल वीर्यरक्षा ही लेना चाहिये। यहाँ उपस्थ का अर्थ केवल शिश्न ही नहीं है अपितु उपस्थ शब्द समस्त इन्द्रियों का वाचक है। इन्द्रिय किसी अंगविशेष का नाम नहीं होता अपितु कर्म करने की शक्ति का नाम इन्द्रिय है। यह शक्ति सम्पूर्ण शरीर में रहती है, किन्तु मुख्य शक्ति किसी अंगविशेष में रहती है। इसलिये उपचार से उस अंगविशेष को इन्द्रिय कह दिया जाता है। वास्तव में अंग को इन्द्रिय नहीं कहते अपितु उस अंग में रहने वाली शक्ति का नाम इन्द्रिय है। उपस्थ आनन्देन्द्रिय है। जिस शक्ति से आनन्द का अनुभव किया जाता है उसका नाम उपस्थ है। जैसे आँख से हम देखने का आनन्द लेते है, श्रोत्र से मधुर गीत सुनने का आनन्द लेते हैं, घ्राण से सूँघने का आनन्द लेते हैं, रसना से स्वादिष्ट रस का आनन्द लेते हैं तथा त्वचा से स्पर्श का आनन्द लेते हैं। इसलिये सभी इन्द्रियों में उपस्थेन्द्रिय रहती है। इनके माध्यम से वीर्य का नाश होता है। अतः समस्त इन्द्रियों के संयम का नाम ब्रह्मचर्य है।

यदि समस्त इन्द्रियों को उपस्थेन्द्रिय न माना जाये तो एक संयत गुप्तेन्द्रियवाला पुरुष भी जब स्त्रियों की तरफ कामना से देखता है उसके अंगों को स्पर्श करता है उससे वार्तालाप करता है तो ऐसा करने पर भी ब्रह्मचारी कहा जाना चाहिये। किन्तु ऐसे पुरुष ब्रह्मचारी नहीं कहलाते हैं। इसलिये दक्षस्मृति में मैथुन के आठ अंग बताये गये हैं-

स्मरणं कीर्त्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।
संकल्पो ऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृतिरेव च।।
एतन्मैथुनमष्टांगं प्रवदन्ति मनीषिणः।
विपरीतं ब्रह्मचर्यमेतदेवाष्टलक्षणम्।।

अर्थात् स्त्रियों के सौन्दर्य का स्मरण करना, उनसे बातें करना, उनके साथ क्रीडा करना, उन्हें छुपछुप कर देखना, उनके साथ एकान्त में गोपनीय बातें करना, मन में स्त्रियों के विषय में विचार करना, उनके साथ सम्भोग करने का मन में निश्चय करना तथा सम्भोगक्रिया के द्वारा खेद की निवृत्ति करना, यह आठ प्रकार का मैथुन है। इन सबका त्याग कर देना ही ब्रह्मचर्य है।

ब्रह्मचर्य को यम इसलिये कहा जाता है क्योंकि यह साधक को वीर्यनाश के कार्यों से रोकता है। उसके अनैतिक कार्यों पर बन्धन लगाता है। योगसाधना के लिये ब्रह्मचर्य का पालन अत्यन्त अनिवार्य है।

अपरिग्रह का स्वरूप

विषयों का संग्रह न करना अपरिग्रह कहलाता है। यह पाँचवां यम है। विषयों का अस्वीकार योगी के लिये परम उपादेय है। क्योंकि विषयों के संग्रह में पाँच दोष हैं- अर्जन, रक्षण, क्षय, संग और हिंसा। विषयों के अर्जन में कष्ट होता है, फिर उनकी रक्षा करने में परिश्रम करना पड़ता है। धन की रक्षा करते हुए भी उनका क्षय तो अवश्यम्भावी है ही। उस क्षय को कोई रोक नहीं सकता। विषयों में संगदोष भी है क्योंकि उनका उपभोग करते-करते उनसे आसक्ति होना स्वाभाविक ही है। किसी प्राणी को पीड़ा पहुँचाए बिना विषयभोग सम्भव नहीं । पीडा पहुँचाना ही तो हिंसा है। अतः हिंसादोष भी है। उक्त दोषों के कारण विषयों का अस्वीकाररूप अपरिग्रह योगियों के लिये उपादेय कहा गया है।

यद्यपि अस्तेय में भी विषयों का अस्वीकार कहा गया है किन्तु वहाँ शास्त्रनिषिद्ध धन के अस्वीकार को अस्तेय कहा गया है। शास्त्रोक्त विधिपूर्वक धन को स्वीकार किया जा सकता है किन्तु अपरिग्रह में तो शास्त्रोक्त धन को स्वीकार करना भी निषिद्ध है।

इस प्रकार महर्षि पतञ्जलि ने उक्त पाँच ही यमों को योगी के लिये उपादेय बताया है। अन्य ग्रन्थों में दस यमों का भी उल्लेख मिलता है। उन पर भी विचार करना प्रासंगिक होगा।

याज्ञवल्क्यस्मृति के अनुसार दस यम

याज्ञवल्क्यस्मृति में दस यमों का उल्लेख प्राप्त होता है। यथा–

ब्रह्मचर्यं दया क्षान्तिर्दानं सत्यमकल्पता।
अहिंसाऽस्तेयमाधुर्यै दमश्चेति यमाः स्मृता॥ –3/3/3

अर्थात् ब्रह्मचर्य, दया, दान, सहनशीलता सत्य अपरिग्रह, अहिंसा, अस्तेय, मधुरता और दम ये दस यम हैं।

कहीं-कहीं दस यमों के नाम इस प्रकार भी दिये जाते हैं–

आनृशंस्यं दया सत्यमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
प्रीतिः प्रसादोमाधुर्यं मार्दवं च यमा दश॥

अर्थात् आनृशंस्य(अक्रूरता),दया, सत्य, अहिंसा, सहनशीलता, सरलता, प्रेम, प्रसन्नता, मधुरता और मृदुता ये दस यम हैं।

शाण्डिल्योपनिषद् के अनुसार दस यम

शाण्डिल्योपनिषद् में दस यमों के नाम इस प्रकार दिये गये हैं–

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यदयाजपक्षमा-
धृतिमिताहारशौचानि चेति यमा दश।

– शाण्डिल्य अध्याय प्रथम

अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, दया, जप, क्षमा, मिताहार और शौच ये दस यम हैं। इनमें पूर्व के चार यम तो पतञ्जलि द्वारा प्रोक्त हैं ही, शेष छः यम नूतन हैं। उनमें दया का अर्थ है-समस्त भूतों पर अनुग्रह करना। मन, वचन और कर्म की एकता का नाम आर्जव है। प्रिय और अप्रिय को समान रूप से सहना क्षमा कहलाती है। अर्थ की हानि होने पर अथवा इष्ट जनों का वियोग होने पर चित्त को स्थिर रखना धृति कहलाती है। अत्यल्प भोजन करना मिताहार है तथा मन और देह को स्वच्छ रखना शौच कहलाता है।

इस प्रकार शाण्डिल्योपनिषद् में ये दस यम हैं। विचार करने पर पतञ्जलि पाँच यमों में ही सबका संग्रह हो जाता है। अतः योगी के लिये अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँच यम ही मुख्यरूप से आचरणीय हैं।

महाव्रत मीमांसा

पूर्वोक्त पाँच यमों का अनुष्ठान यदि जाति, देश, काल तथा समय अर्थात् शर्त की सीमाओं से बाहर निकल कर किया जाये तो ये यम सार्वभौम हो जाते हैं। तब इनकी संज्ञा महाव्रत हो जाती है। इस बात को सूत्रकार कह रहे हैं-

जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्।

-योगसूत्र 2/31

उक्त पाँच यमों में अहिंसा के महाव्रतत्व का उपपादान करने के लिये अहिंसा के चार भेद किये जाते हैं। अर्थात् जाति, देश, काल तथा समय की दृष्टि से अहिंसा चार प्रकार की हो जाती है- जात्यवच्छिन्न अहिंसा, देशावच्छिन्न अहिंसा, कालावच्छिन्न अहिंसा तथा समयावच्छिन्न अहिंसा।

जात्यवच्छिन्न अहिंसा

मछली पकड़ने वाला व्यक्ति मछली की हिंसा करता है। वह यदि सोचता है कि "मैं केवल मछली को ही मारूंगा, अन्य किसी प्राणी की हिंसा नहीं करूंगा" तो मछली से भिन्न किसी भी जाति के प्राणी को न मारना जात्यवच्छिन अहिंसा कहलाती है। जब मत्स्यबन्धक यह निश्चय कर लेता है कि मै केवल मछली को ही नहीं अपितु संसार की किसी भी जाति के प्राणी की हिंसा नहीं करूंगा तो यह अहिंसा जात्यनवच्छिन्न होकर महाव्रत बन जाती है।

देशावच्छिन्न अहिंसा

वही मत्स्यबन्धक जब यह संकल्प करता है कि मैं मछली को भी किसी तीर्थस्थान में नहीं मारूंगाा, तीर्थ से अतिरिक्त स्थान में मारूंगा तो, इस संकल्प के साथ तीर्थ में मछली की हिंसा न करना देशावच्छिन्न अहिंसा है।

कालावच्छिन्न अहिंसा

जब वह मत्स्यबन्धक यह निश्चय करता है कि "मैं तीर्थ से अन्य स्थानों पर भी चतुर्दशी में अथवा किसी पवित्र दिन में मछलियों को नहीं मारूंगा" तो इस संकल्प के साथ की गयी अहिंसा कालावच्छिन्न अहिंसा कहलाती है।

समयावच्छिन्न अहिंसा

वही मत्स्यबन्धक जब पूर्वोक्त जाति, देश तथा काल के साथ-साथ

यह संकल्प करता है कि "मैं मछलियों को तीर्थस्थान से अन्य स्थानों पर तथा चतुर्दशी आदि तिथियों को छोड़कर अन्य दिनों में भी केवल देवता तथा ब्राह्मण के लिये ही मारूंगा, अपने लिये या किसी अन्य व्यक्ति के लिये मछली नहीं मारूंगा तो यह अहिंसा समयावच्छिन्न अहिंसा कहलाती है। इस प्रकार जब एक क्षत्रिय इस शर्त के साथ अहिंसा का पालन करता है कि मैं युद्ध में ही शत्रुओं को मारूंगा, अन्य स्थिति में नहीं मारूंगा, तो यह अहिंसा भी समयावच्छिन्न अहिंसा कहलाती है।"

उपर्युक्त जाति, देश, काल तथा समय की सीमाओं को लाँघकर जब व्यक्ति यह निश्चय करता है कि मैं किसी भी जाति के प्राणी की हिंसा नहीं करूंगा , किसी भी देश में , किसी भी काल में, और किसी भी परिस्थिति में हिंसा नहीं करूंगा, तो ऐसी अहिंसा सार्वभौम अहिंसा कहलाती है। यह सार्वभौम अहिंसा ही महाव्रत कहलाती है।

यह अहिंसा का उदाहरण दिया गया। इसी प्रकार सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह भी जब उक्त जाति, देश, काल और परिस्थिति से अनवच्छिन्न होकर अनुष्ठित किये जाते हैं तो वे भी महाव्रत बन जाते हैं।

इन महाव्रतों का सेवन साधारण पुरुष नहीं कर सकते। सामाजिक गृहस्थ पुरुष के लिये अहिंसादि का पालन दुष्कर ही नहीं प्रत्युत असम्भव है। क्योंकि समान्यजीवन में मक्खी-मच्छर, कीट-पतंग आदि प्राणियों की हिंसा करनी पड़ती है। थोड़ा बहुत असत्यभाषण, स्तेय, वीर्यनाश तथा धनसंग्रह के बिना सामाजिक गृहस्थ का जीवनयापन सम्भव नहीं। सामान्य यमों का सेवन भले ही सम्भव हो किन्तु महाव्रतों का पूर्ण पालन तो कथमपि सम्भव नहीं । इनका सेवन तो वही कर सकता है जिसने योगसाधना करने का निश्चय कर लिया है। इसके लिये उसे नगरवास तथा गृहवास छोड़कर अरण्य में एकान्तवास करना पड़ेगा। जनसम्पर्क से दूर प्रशान्त ईति-भीति से रहित सुरक्षित स्थान में रहकर योगसाधना करनी पड़ेगी।

हिंसा के 81 प्रकार

भाष्यकार व्यासदेव ने हिंसा के इक्यासी प्रकार बताये हैं। सबसे पहले कृत कारित तथा अनुमोदित भेद से हिंसातीन प्रकार की है। जब स्वयं किसी प्राणी को अपने हाथ से मारा जाता है तो यह कृत हिंसा है। जब किसी अन्य को प्रेरित करके हिंसा करायी जाती है तो यह कारित हिंसा है। जब किसी अन्य के द्वारा की गयी हिंसा का समर्थन किया जाता है कि तुमने बहुत अच्छा किया

जो इसे मार डाला, तो यह हिंसा अनुमोदित कही जाती है।

जब यह तीन प्रकार की हिंसा लोभ, क्रोध, मोहपूर्वक की जाती है तो उपर्युक्त त्रिविध हिंसा के पुनः तीन-तीन भेद हो जाते हैं। मांस अथवा चमड़े के लोभ से की गयी हिंसा लोभकृत लोभकारित तथा लोभानुमोदित कही जाती है। इसी प्रकार इस क्रोध से भी हिंसा की जाती है कि इसने मेरी हानि की है मैं भी इसकी हानि करूंगा। इस प्रकार मोह से भी हिंसा की जाती है कि इसकी बलि देने से धर्म होगा। इस प्रकार हिंसा के नौ भेद हुए।

उपर्युक्त नौ प्रकार की हिंसा के मृदु, मध्य तथा अधिमात्र के भेद से पुनः तीन-तीन भेद हो जाते है। इस प्रकार हिंसा के सत्ताईस भेद हुये ।

यह सत्ताईस प्रकार की हिंसा पुनः तीन प्रकार की हो जाती है। मृदु मृदु, मध्यमृदु और अधिमात्र मृदु। मृदुमध्य, मध्यमध्य तथा अधिमात्रमध्य - ये तीन भेद हैं। मृदुतीव्र , मध्यतीव्र और अधिमात्रतीव्र ये तीन भेद हुए। इस प्रकार हिंसा के इक्यासी भेद हुए । यदि हम नियम विकल्प और समुच्चय के भेद से उक्त 81 प्रकार की हिंसा के भेद करने लगें तो यह हिंसा असंख्य भेदों वाली हो जाती है।

उक्त सभी प्रकार की हिंसाओं का त्याग योगी को करना पड़ता है। यह अत्यन्त दुष्कर कार्य है। साधारण पुरुष के लिये ही नहीं योगी पुरुष भी उक्त अहिंसा का पालन बड़ी कठिनता से करता है। इस मार्ग को असिधारव्रत कहा जाता हैं। कृपाण की तीक्ष्ण धार पर नग्न चरणों से चलना और चरणों का क्षतविक्षत न होना अत्यन्त कठिन कार्य है। फिर भी कुशल खिलाडी उस पर चलते ही हैं। इसी प्रकार योगमार्ग भी असिधारव्रत के समान अति दुर्ग है फिर भी कुशल योगी उस पर चलता है। यही तो है गीता का कर्मकौशलरूप योग।

नियमों का स्वरूप

शौच, सन्तोष, तप , स्वाध्याय तथा ईश्वरप्रणिधान इन पाँच व्यक्तिगत शुभ आचरणों को नियम कहा जाता है। 'निश्शेषेण यमयन्ति बध्नन्ति चित्तम् इति नियमाः।' चूँकि समग्ररूप से ये चित्त को बाँधते हैं इसलिये इन्हें नियम कहा जाता है। नियमों को यमों की पूर्वभूमिका कहा जा सकता है, क्योंकि जब देह और चित्त स्वच्छ नहीं होगें अथवा चित्त असन्तुष्ट होगा, शरीर में द्वन्द्व सहने की क्षमता नहीं होगी, मोक्षोपयोगी ग्रन्थों का अध्ययन नहीं किया जायेगा तथा ईश्वर का अनुग्रह प्राप्त नहीं होगा तब तक अहिंसा का सेवन दुष्कर ही नहीं अपितु असम्भव ही होगा। इसलिये योगारूढ होने के लिये साधक को प्रतिक्षण नियमों का अनुष्ठान निरालस्य होकर करना चाहिये।

शौच

शौच का अर्थ है शुद्धि अथवा स्वच्छता। यह शौच दो प्रकार का है बाह्य शौच तथा आभ्यन्तर शौच। मिट्टी, जल अथवा गोबर से शरीर की तथा स्थान की शुद्धि करना बाह्य शौच है। हित-मित तथा पवित्र भोजन से उदर की शुद्धि द्वारा शरीर को स्वस्थ रखना भी बाह्य शौच ही है।

मैत्री, करुणा आदि भावनाओं से प्रणवजप से तथा प्राणायामादि के द्वारा मद-मान-ईर्ष्या, राग-द्वेष आदि मलों का क्षालन करना आभ्यन्तर शौच है।

हठयोग के धौति-बस्ती-नौली-नेति आदि क्रियायें इसी शौच के अंग हैं। इनसे केवल बाह्य शौच ही होता है। इससे अधिक इन क्रियाओं की कोई उपयोगिता नहीं। शरीर का स्वस्थ रहना योगाभ्यास के लिये अत्यन्त आवश्यक है।

सन्तोष

सन्तोषः सन्निहितसाधनादधिकस्यानुपादित्सा। व्यासभाष्य 2/32

जो भोगसाधन निकट विद्यमान हैं उन पदार्थों से अधिक तथा अनुपयोगी अन्य पदार्थ के ग्रहण करने की इच्छा न होना सन्तोष कहलाता है। प्रारब्धवश जो पदार्थ स्वतः प्राप्त हैं वे ही योग के लिये पर्याप्त होते हैं उनसे अधिक इच्छा योगसाधक को नहीं करनी चाहिये । मिट्टी के घट से यदि जलानयन का कार्य चल रहा है तो सुवर्णघट की इच्छा क्यों की जाये। सन्तुष्ट व्यक्ति सबसे सम्मृद्ध और सुखी होता है। असन्तुष्ट व्यक्ति से बड़ा कोई दरिद्र नहीं होता। अधिकाधिक पदार्थों की प्राप्ति की इच्छा ही तो दरिद्रता का लक्षण है। पूर्णकामता ऐश्वर्य का लक्षण है। सन्तोष योगी का धन है।

तप का स्वरूप

तपो द्वन्द्वसहनम्। व्यासभाष्य 2/32

क्षुधा-पिपासा, शीत-उष्ण खड़ा होना और बैठना आदि द्वन्द्वों को सहना तप कहलाता है। मौन धारण करना भी तप है। यह मौन दो प्रकार का है- काष्ठमौन तथा आकारमौन। जब साधक वाणी से बिल्कुल नहीं बोलता तथा हाथों अथवा किसी भी अंग की चेष्टा से भी अपना अभिप्राय प्रकट नहीं करता तो इस प्रकार का मौन काष्ठमौन कहलाता है। जब साधक केवल वाणी का उपयोग नहीं करता किन्तु अन्य आकारों से अपने अभिप्राय को प्रकट करता रहता है तो यह आकारमौन कहलाता है।

कृच्छ्र, चान्द्रायण, सान्तपन, एकादशी आदि व्रतों का अनुष्ठान करना भी तप ही है। इन व्रतों का अनुष्ठान उतनी ही सीमा तक करना चाहिये जिससे शरीर पर बुरा असर न पड़े।

कृच्छ्र

तीन दिन तक केवल प्रातःकाल में मुर्गी के अण्डे के बराबर छब्बीस ग्रास भोजन करे। उसके बाद तीन दिन तक केवल सायंकाल में ही मुर्गी के अण्डे के बराबर छब्बीस ग्राम भोजन करे। फिर उसके आगे तीन दिन तक बिना मांगे जो प्राप्त हो जाये उसमें से कुक्कुटाण्डपरिमित चौबीस ग्रास दिन में एकबार आहार करे और पुनः उसके आगे तीन दिन तक निराहार रहे। इसको कृच्छ्र व्रत कहते हैं।

चान्द्रायण व्रत

शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से इस व्रत का प्रारम्भ किया जाता है। ज्यों-ज्यों चन्द्रमा की कला वृद्धि को प्राप्त होती है वैसे-वैसे मयूर के अण्डे की मात्रा में एक-एक ग्रास का भोजन बढ़ाते जायें। अर्थात् प्रतिपदा को एक ग्रास, द्वितीया को दो ग्रास, तृतीया को दो तीन ग्रास, इस प्रकार बढ़ाते-बढ़ाते पूर्णिमा को पन्द्रह ग्रास भोजन करें । कृष्णपक्ष की प्रतिपदा से भोजन उतनी ही मात्रा में घटाना पड़ता है। अर्थात् कृष्णपक्ष की प्रतिपदा को चौदह ग्रास, द्वितीया को तेरह ग्रास, तृतीया को बाहर ग्रास, इस प्रकार एक-एक ग्रास घटाते जायें। अमावस्या को पूर्ण उपवास करें। इसे चान्द्रायण व्रत कहते हैं।

सान्तपन

प्रथम दिन अन्य सब आहार छोड़कर आठ मासा ताम्रवर्णा गौ का मूत्र, सोलह मासा श्वेत गाय का गोबर, बारह मासा कांचनवर्णा गौ का दुग्ध तथा दस मासा नीले रंग की गाय का घृत इन सबको मिलाकर उससे आधा भाग उसमें कुश और जल मिलायें। सबको मिलाकर पान करें। दूसरे दिन उपवास करें। इसे सान्तपन व्रत कहते हैं। इसे शक्ति के अनुसार मास में कई बार किया जा सकता है।

एकादशी व्रत

दशमी को एक बार भोजन करें। एकादशी को पूर्ण निराहार रहें। द्वादशी को एक ही बार भोजन करें। इसको एकादशी व्रत कहते हैं।

उपर्युक्त तप के अनुष्ठान से शरीर की कष्ट सहने की क्षमता में वृद्धि होती हैं। शरीर और मन की दुर्बलता नष्ट होकर योगाभ्यास की योग्यता प्राप्त होती है।

स्वाध्याय का स्वरूप

स्वाध्यायो मोक्षशास्त्राणामध्ययनं प्रणवजपो वा। व्यासभाष्य 2/32

उपनिषद्,गीता,ब्रह्मसूत्र आदि मोक्षोपयोगी शास्त्रों का अध्ययन तथा ओंकार का जप स्वाध्याय कहलाता है। वस्तुत: स्व शब्द आत्मा का वाचक है। जिन शास्त्रों के अध्ययन से आत्मा का ज्ञान हो उन्हीं शास्त्रों का अध्ययन स्वाध्याय कहलाता है। प्रत्येक ग्रन्थ का अध्ययन स्वाध्याय नहीं कहलाता।

ईश्वरप्रणिधान का स्वरूप

ईश्वरप्रणिधान पांचवाँ नियम है। भाष्यकार के अनुसार ईश्वरप्रणिधान का स्वरूप है-

तस्मिन् परमगुरौ सर्वकर्मार्पणम्। व्यासभाष्य 2/32

अर्थात् परम गुरु परमेश्वर में सर्वक्रियाओं को अर्पित कर देना ईश्वरप्रणिधान है। यही बात भगवान् कृष्ण अर्जुन से कह रहे हैं कि हे अर्जुन!तू जो भी होम करता है, जो खाता है, जो करता है, जो दान क़रता है तथा जो भी तप करता है वह सब तू मुझे अर्पित कर दे।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोसि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्।। गीता 9/27

यही बात भाष्यकार कह रहे हैं कि व्यक्ति शय्या पर लेटा हो या मार्ग में जा रहा हो, एकान्त में स्वस्थ होता हुआ वितर्कजाल का नाश करके ईश्वरप्रणिधान द्वारा अज्ञान का नाश कर सकता है तथा मोक्ष को प्राप्त करता है- **शय्यासनस्थोऽथ पथि व्रजत्वा**
स्वस्थः परिक्षीणवितर्कजालः।
संसारबीजक्षयमीक्षमाणः
स्यान्नित्ययुक्तोऽमृतभोगभागी।। व्यासभाष्य 2/32

अत्रिस्मृति में दस नियम

महर्षि पतञ्जलि ने पूर्वोक्त पाँच ही नियम स्वीकार किये हैं। महर्षि अत्रि ने दस नियमों का उल्लेख किया है-

शौचमिज्या तपो दानं स्वाध्यायोपस्थनिग्रहः।
व्रतमौनोपवासं च स्नानं च नियमा दश।। अत्रिस्मृति अध्याय 13

अर्थात् शौच, यज्ञ, तप, दान, स्वाध्याय, उपस्थेन्द्रिय का निग्रह , व्रत , मौन , उपवास तथा स्नान ये दस नियम हैं।

शाण्डिल्योपनिषद् के अनुसार दस नियम

शाण्डिल्योपनिषद् में भी दस नियमों की चर्चा की गई है- तप, सन्तोष, आस्तिक्य, दान, ईश्वरपूजन, सिद्धान्तश्रवण ,ह्री, मति, तप और व्रत।

इनमें तप, सन्तोष, ईश्वरपूजन तथा तप तो पूर्ववत् ही हैं। जप,स्वाध्याय का ही रूप है। वेदोक्त धर्म और अधर्म में विश्वास को आस्तिक्य कहते हैं। दान तो स्पष्ट ही है। वेदान्त के अर्थ पर विचार करने का नाम सिद्धान्तश्रवण है। कुत्सित कर्मों में लज्जा को ह्री कहते हैं। वेदविहित कर्ममार्ग में श्रद्धा का नाम मति है। वेदों में कहे गये विधि और निषेधपरक अनुष्ठानों में नियतता का नाम व्रत है। इस प्रकार शाण्डिल्योपनिषद् में उक्त दस नियमों का उल्लेख किया गया है।

यूँ तो नियमों की संख्या शताधिक हो सकती है। किन्तु योगाभ्यास में पाँच नियमों से ही चित्त शुद्धि सम्भव है । अतः पतञ्जलि प्रोक्त नियम ही प्रामाणिक माने गये हैं।

यमों के अनुष्ठान का फल

यमों के अनुष्ठान से योगी को अद्‌भुत ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है। यह ऐश्वर्य यमों की सिद्धि का सूचक है। अर्थात् जब यह ऐश्वर्य दिखाई देने लगे तो यह समझना चाहिये कि यम का अनुष्ठान पूर्ण हुआ। उस समय योगी की यम में प्रतिष्ठा हो गयी। अब क्रमशः उन यमों के ऐश्वर्यरूप फलों का निरूपण किया जाता है।

अहिंसा का फल

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः। योगसूत्र 2/35

योगी के चित्त में जब अहिंसा का भाव प्रतिष्ठित हो जाता है तब उसके सान्निध्य में आये हुए स्वाभाविक विरोधी प्राणियों का भी वैरभाव शान्त हो जाता है।

अहिंसा की प्रतिष्ठा का अर्थ है कि किसी भी विपरीत स्थिति में भी मन में हिंसा की भावना उत्पन्न न हो। चाहे शत्रु कितना भी अपकार करे, कोई कितना भी अपमान करे किन्तु मन से भी किसी का अनिष्ट चिन्तन न करे। जब ऐसी भावना चित्त में बद्धमूल हो जाये तो यह समझना चाहिये कि अब अहिंसा प्रतिष्ठित हो गयी। उक्त अहिंसाप्रतिष्ठा का पता तब चलता है जब पास में स्थित सिंह और मृग , मयूर और सर्प, मार्जार और मूषक अपना वैरभाव भूलकर एकसाथ बैठे रहें। यह वैरभाव की शान्ति ही अहिंसा की प्रतिष्ठा का फल है।

अहिंसानिष्ठ योगी के निकट आकर सिंह और मृग आदि प्राणी भी अपना वैरभाव किस प्रकार छोड देते हैं यह एक वैज्ञानिक प्रक्रिया है। योगी के चित्त से सत्त्व की तरगें वातावरण से मिलकर वातावरण को इतना पवित्र और शान्त कर देती हैं कि मनुष्यों का ही नहीं अपितु पशु का भी चित्त शान्त और पवित्र हो जाता है। यह एक आध्यात्मिक चमत्कार है।

२ सत्य का फल

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्। योगसूत्र 2/36

सत्य की प्रतिष्ठा होने पर योगी को शुभाशुभ क्रियाओं का फल वाणी से उच्चारण करते ही प्राप्त हो जाता है। यदि वह किसी को वाणी से कह दे कि तू धार्मिक हो जा तो वह अधार्मिक होते हुए भी धार्मिक हो जाता है। यदि वह कहे कि 'स्वर्ग को प्राप्त कर' तो वह तुरन्त ही स्वर्ग को प्राप्त हो जाता है। कहने का अभिप्राय यह है कि योगी की वाणी अमोघ होती है।

यद्यपि सत्यनिष्ठ योगी का जैसे आशीर्वाद सफल होता है वैसे ही शाप भी सफल होता है किन्तु वह जल्दी से किसी को शाप नहीं देता। यदि शाप भी देता है तो उसकी कृपा ही समझनी चाहिये। सन्मार्ग पर लाने के लिये वह किसी को शाप देता है। किन्तु ऐसा अत्यन्त विरल ही होता है क्योंकि वह सत्य के साथ अहिंसा में भी प्रतिष्ठित होता है। शाप तो एक प्रकार की हिंसा ही होती है।

३ अस्तेय का फल

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् । योगसूत्र 2/37

अस्तेय की प्रतिष्ठा होने पर योगी के पास सब देश देशान्तरों से हीरा मोती आदि अमूल्य रत्न उपस्थित हो जाते हैं। यद्यपि योगी उन रत्नों की इच्छा नहीं करता, रत्न स्वयं ही उपस्थित होते हैं। जब सब ओर से रत्नों की उपस्थिति होने लगे तो समझना चाहिये कि योगी अस्तेय में प्रतिष्ठित हो गया है।

४ ब्रह्मचर्य का फल

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः। योगसूत्र 2/38

ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा होने पर योगी को वीर्य अर्थात् सब प्रकार की शक्तियों का लाभ होता है। जो योगी पूर्णरूप से ब्रह्मचर्य का पालन पूर्ण कर लेता है उसे ऐसी शक्ति प्राप्त होती है जिससे वह अणिमादि सिद्धियों को प्राप्त करके अपने शिष्यों को भी समाधिनिष्ठ तथा तत्त्वज्ञानी बना सकता है।

५ अपरिग्रह का फल

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः। योगसूत्र 2/39

अपरिग्रह की स्थिरता होने पर योगी को भूत, वर्त्तमान तथा भविष्यत् काल के जन्मों का ज्ञान हो जाता है। अर्थात् पूर्वजन्म में ' मैं कौन था, किस प्रकार का था तथा मृत्यु के पश्चात् भविष्य में किस योनि में मेरा जन्म होगा' ऐसा प्रत्यक्षात्मकज्ञान योगी को अपरिग्रह की सिद्धि होने पर हो जाता है।

इस प्रकार यमों की स्थिरता होने पर उपर्युक्त पाँच ऐश्वर्य योगी को प्राप्त होते हैं। अब नियमों का फल निरूपित किया जाता है।

नियमों का फल

शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान इन पाँच नियमों की साधना करते हुए जब साधक पूर्ण सिद्ध हो जाता है तो उसे कुछ असाधारण शक्तियों की प्राप्ति होती है। वही उसका फल है। किस नियम से किस फल की प्राप्ति होती है इसका विवेचन इस प्रकार है-

१ बाह्यशौच का फल

शौचात् स्वांगजुगुप्सा परैरसंसर्गः। योगसूत्र 2/40

पूर्णतया शौच के अनुष्ठान से योगी के चित्त में अपने अंगों के प्रति ग्लानि अथवा घृणा का भाव उत्पन्न होता है तथा दूसरे पुरुषों से संसर्ग न करने की इच्छा उत्पन्न होती है।

निरन्तर शौच का आरम्भ करने पर भी जब योगी यह देखता है कि यह शरीर शुद्ध करने पर भी शुद्ध नहीं हो पा रहा है तो उसे अपने शरीर के दोष ज्ञात हो जाते हैं। वह जान जाता है कि यह शरीर स्वभाव से ही मलिन है। ऐसा सोचकर वह शरीर के प्रति उदासीन हो जाता है और संन्यासी हो जाता है। शरीर के मलिन स्वभाव को जानकर वह अपने शरीर का भी त्याग करना चाहता है। जो अपने शरीर से भी घृणा करेगा वह दूसरों के शरीर से भला क्यों संसर्ग करेगा? अर्थात् अपने और दूसरों के शरीरों से उसका आकर्षण समाप्त हो जाता है। यह एक बहुत बड़ी उपलब्धि है। वैराग्य ही तो योग का मूल है।

आभ्यन्तरशौच का फल

सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्ये न्द्रियजयात्म-
दर्शनयोग्यत्वानि च। योगसूत्र 2/41

आभ्यन्तर शौच अर्थात् अन्तःकरण की स्वच्छता होने पर योगी को

पाँच फल प्राप्त होते हैं- सत्त्वशुद्धि, सौमनस्य अर्थात् शुद्धभावना का जन्म होता है। भावनाशुद्धि का जन्म होता है। भावनाशुद्धि के पश्चात् चित्त एकाग्र होता है। एकाग्रता से इन्द्रियां वश में होती हैं, यही इन्द्रिजय है। उसके पश्चात् आत्मसाक्षात्कार की योग्यता चित्त में आती है। यही आत्मदर्शनयोग्यता है।

२ सन्तोष का फल

सन्तोषादनुत्तमः सुखलाभः। योगसूत्र 2/42

सन्तोष की भावना चित्त में प्रतिष्ठित होने पर योगी को अनुत्तम सुख की प्राप्ति होती है। अनुत्तम सुख का अर्थ है ऐसा सुख जिससे उत्तम कोई दूसरा सुख नहीं होता। समस्त दु:खों का मूल तो तृष्णा है। यह तृष्णा इतनी प्रबल होती है कि शरीर के जीर्ण होने पर यह जीर्ण नहीं होती अपितु और भी प्रबल होती है। जो तृष्णा को छोड देता है वही सच्चा सुख प्राप्त करता है। महाभारत में कहा गया है-

या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यताम्।
तां तृष्णां सन्त्यजन् प्राज्ञः सुखेनैवाभिपूर्यते।। - महाभारत आदिपर्व 85/14

यही बात भाष्यकार व्यासदेव कह रहे हैं-

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्। मनुस्मृति

अर्थात् लोक में जितना भी माला, चन्दन, भोजन, वनिता आदि कामनाओं का सुख है और जितना भी स्वर्ग का अमृतपान अप्सराभोग आदि से जन्य दिव्यसुख है, ये दोनों सुख मिलकर भी सन्तोषसुख के सोलहवें अंश के बराबर भी नहीं हैं।

३ तप का फल

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः। योगसूत्र 2/43

तप का अनुष्ठान करते-करते तपोनिष्ठ होने पर तमोगुण से जन्य अशुद्धि का क्षय होता है तथा अशुद्धि का क्षय होने पर शरीर और इन्द्रियों की सिद्धि प्राप्त होती है।

अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व ये आठ प्रकार की शरीर की सिद्धियाँ हैं तथा दूर से सुनना, दूर से देखना, दूर से सूघँना, दूर से स्वाद लेना और दूर से स्पर्श करना ये पाँच इन्द्रियसिद्धियाँ हैं। तप के अनुष्ठान से ये सभी सिद्धियाँ योगी को प्राप्त होती हैं।

4 स्वाध्याय का फल

स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः । योगसूत्र 2/44

वेदादि शास्त्रों के अध्ययन तथा परमात्मा के ओंकार आदि नामों के जपरूप स्वाध्याय में प्रतिष्ठा प्राप्त होने पर योगी को अपने अभीष्ट देवता का दर्शन होता है। यदि योगी देवता सिद्ध ऋषि तथा अन्य किसी देवी का साक्षात्कार करना चाहे तो वे देव ऋषि सिद्ध आदि इस स्वाध्यायशील योगी को साक्षात् दर्शन देते हैं तथा जिस कार्य की वह प्रार्थना करता है उस कार्य को वे करते हैं। जब वे देवता आदि उस योगी के कार्यों का सम्पादन करने लग जायें तब समझना चाहिये कि योगी का स्वाध्याय पूर्ण हुआ।

५ ईश्वरप्रणिधान का फल

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधाान -योगसूत्र 2/45

ईश्वरप्रणिधान से अर्थात् समस्त कर्मों को ईश्वर के लिये अर्पित करने से योगी को समाधि का लाभ शीघ्र होता है। समाधि की सिद्धि होने पर योगी सब देश और कालों में विद्यमान अभीष्ट पदार्थों को यथार्थरूप से जानता है।

आसन का स्वरूप

अष्टांग योग का तृतीय अंग है आसन। योगसाधना के लिये आसन का अभ्यास अनिवार्यरूप से करना पड़ता है। शरीर की स्थिति के ढंग को आसन कहते हैं। योगसाधक किसी न किसी आसन में स्थित होकर ही अभ्यास करता है। भाग-दौडकर अथवा चलायमान शरीर से तो अभ्यास करेगा नहीं। आसन वही होना चाहिये जिससे शरीर को स्थिरता और सुख मिले जिससे चित्त सरलता से वृत्तियों का निरोध कर सके।

सूत्रकार आसन का स्वरूप बताते हैं-

स्थिरसुखमासनम्। -; योगसूत्र 2/46

जिसके द्वारा स्थिरता तथा सुख की प्राप्ति पुरुषों को प्राप्त हो वह आसन कहा जाता है। अर्थात् निम्नलिखित पद्मासन आदि आसनों में से जिसके द्वारा स्थिरता तथा सुख की प्राप्ति हो उसी आसन का उपयोग योगी को करना चाहिये । उनमें से कुछ आसनों का उल्लेख भाष्यकार कर रहे हैं। जैसे पद्मासन, वीरासन, भद्रासन, स्वस्तिकासन, दण्डासन, सोपाश्रयासन, पर्यंकासन, क्रोञ्चनिषदन, हस्तिनिषदन, उष्ट्रनिषदन, समसंस्थान, स्थिरसुखासन तथा यथासुखासन आदि। उदाहरण के लिये कुछ आसनों के प्रकार इस प्रकार हैं-

1 पद्मासन

स्वात्माराम योगीन्द्र ने पद्मासन का स्वरूप इस प्रकार बताया है-

वामोरूपरि दक्षिणं च चरणं संस्थाप्य वामं तथा
दक्षोरूपरि पश्चिमेन विधिना धृत्वा कराभ्यां दृढम्।
अंगुष्ठौ हृदये निधाय चिबुकं नासाग्रमालोकये-
देतद्व्याधिविनाशकारि यमिनां पद्मासनं प्रोच्यते॥

हठयोगप्रदीपिका 1/44

अर्थात् बायी जंघा के ऊपर दाहिने पैर को रखना, तथा दाहिनी जंघा के ऊपर बायें पैर को रखना , दाहिने हाथ को पीछे की ओर घुमा कर बायीं जंघा पर स्थित दाहिने पैर के अंगूठे को पकड़ना,इसी प्रकार बायें हाथ को पीठ की तरफ घुमा कर दाहिने जंघा पर स्थित बायें पैर के अंगूठे को पकड़ना, हृदय के चार अंगुल के बीच में चिबुक(ठोडी) के अग्रभाग को रखना और नासिका के अग्रभाग को देखते रहना, इस स्थिति को पद्मासन कहते हैं।

2 वीरासन

एकं पादं तथैकस्मिन् विन्यसेदुरुणि स्थितम्।
इतरस्मिंस्तथा चोरुं वीरासनमितीरितम्॥ - हठयोगप्रदीपिका 1/21

एक पैर को पृथ्वी पर रखना, दूसरे पैर के घुटने को मोड़कर उसके ऊपर रखते हुए स्थित रहना वीरासन कहलाता है।

3 भद्रासन

गुल्फौ च वृषणस्याधः सीवन्याः पार्श्वयोः क्षिपेत्।
सव्यगुल्फं तथा सव्ये दक्षगुल्फं तु दक्षिणे॥
पार्श्वपादौ च पाणिभ्यां दृढं बद्ध्वा सुनिश्चलम्।
भद्रासनं भवेदेतत् सर्वव्याधिविनाशनम्॥

हठयोगप्रदीपिका 1/53-54

दोनों पैरों के तलुवों को अण्डकोष के पास रखना तथा दोनों हाथों से दोनों पैरों को बाँधकर रखना, यह भद्रासन कहलाता है। यह समस्त व्याधियों का नाशक है।

4 स्वस्तिकासन

जानूर्वोरन्तरे सम्यक् कृत्वा पादतले उभे।
ऋजुकायः समासीनः स्वस्तिकं तत्प्रचक्षते॥ - हठयोगप्रदीपिका 1/19

बायें पैर को मोड़कर दाहिनी जंघा और ऊरू के बीच में रखना तथा दाहिने पैर को मोड़कर बायीं जंघा और ऊरू के बीच में रखकर सीधे बैठना

स्वस्तिकासन कहलाता है अन्य आसनों के प्रकार को हठप्रदीपिका में देखना चहिये।

आसनसिद्धि का उपाय

महर्षि पतञ्जलि ने आसनसिद्धि के दो उपाय बताये हैं- प्रयत्न की शिथिलता और अनन्तसमापत्ति। यथा-

प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम्। -योगसूत्र 2/47

प्रयत्नशैथिल्य का अर्थ है प्रयत्न न करना अर्थात् शरीर की स्वाभाविक चेष्टा को रोक देना। प्रयत्न की शिथिलता के लिये प्रयत्न करना चाहिये। तभी साधक को स्थिरसुख की प्राप्ति हो सकती है।

अनन्तसमापत्ति का अर्थ है **शेषनाग** में ध्यान लगाना। एकाग्रता का हेतु ध्यान है और ध्यान का हेतु स्थिरता है। स्थिरता की प्राप्ति आसन से होती है। अतः स्थिरता के कारणभूत आसन की सिद्धि के लिये किसी स्थिर पदार्थ का चिन्तन आवश्यक है। सबसे अधिक स्थिर हैं भगवान् अनन्त। **शेषनाग** का नाम अनन्त है। उनके सहस्रफणों पर ब्रह्माण्ड स्थित है। वे स्थिर न हों तो ब्रह्माण्ड भी स्थिर नहीं रह सकता । अतः अत्यन्त स्थिर भगवान् अनन्त में चित्त को एकाग्र करने में उनकी कृपा से आसन की सिद्धि शीघ्र होती है। अतः आसन की शीघ्र सिद्धि के लिये योगियों को भगवान् अनन्त का ध्यान करना चाहिये ।

आसन का फल

आसनसिद्धि का मुख्य फल तो स्थिरता ही है, किन्तु इसके अतिरिक्त कुछ अन्य फल भी हैं। सूत्रकार कहते हैं-

ततो द्वन्द्वानभिघातः। -योगसूत्र 2/48

अर्थात् आसनसिद्धि होने पर शीतोष्णादि द्वन्द्वों की सहने की शक्ति प्राप्त होती है। योगी शीतोष्णादि से पीडित नहीं होता है। वज्र के समान समस्त शारीरिक बाधाओं से अनभिभूत रहता है। जब ऐसा होने लगे तब समझना चाहिये कि आसन की सिद्धि हुई।

प्राणायाम का स्वरूप

प्राणायाम अष्टांगयोग का चतुर्थ अंग है। समाधि तक पहुँचने के लिये प्राणायाम की सिद्धि अनिवार्य है। चित्त की चंचलता का निरोधक सबसे अधिक प्राणायाम ही है। हठयोगियों का तो यहाँ तक कहना है कि प्राण की चंचलता से ही चित्त की चंचलता होती है। तथा प्राण की निश्चलता से ही चित्त भी निश्चल होता हे। अतः प्राणनिरोध का अभ्यास योगी को करना चाहिये।

चले वाते चलं चित्तं निश्चले निश्चलं भवेत् ।
योगी स्थाणुत्वमाप्नोति ततो वायुं निरोधयेत्। हठयोगप्रदीपिका 2/2

महर्षि पतञ्जलि ने प्रायाणाम का स्वरूप इस प्रकार बताया है-
तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः।

अर्थात् आसन की सिद्धि होने पर श्वास और प्रश्वास की स्वाभाविक गति के विच्छेद को प्राणायाम कहते हैं।

बाह्यवायु को भीतर खींचना श्वास है। तथा उदर में स्थित वायु को बाहर निकालना प्रश्वास है। जब इन दोनों गतियों का अभाव हो जाये तो यह प्राणायाम कहलाता है।

शंका हो सकती है कि श्वास-प्रश्वास की गति का यदि अभाव हो जायेगा तो यह अवस्था मृत्यु कहलायेगी। किन्तु यह शंका व्यर्थ है। क्योंकि सूत्रकार ने श्वास और प्रश्वास के अभाव को प्राणायाम नहीं कहा अपितु उसकी गति के विच्छेद को प्राणायाम कहा है। गतिविच्छेद का अर्थ मृत्यु नहीं होता। श्वास और प्रश्वास की गति का विच्छेद तो जीवनकाल में वृद्धि करता है। मृत्यु नहीं देता। क्योंकि प्राणी के कर्म के अनुसार उसे कुछ सीमित श्वास मिले हैं। श्वास-प्रश्वासों की संख्या निर्धारित है। श्वास-प्रश्वास की गति यदि निरन्तर रहेगी तो उससे आयु का क्षय शीघ्र होगा। श्वास और प्रश्वास की संख्या का नाम ही तो आयु है। यदि प्राणी एक मिनट में स्वाभाविक 20 या 25 श्वास लेता है तो गतिविच्छेद करने पर वह एक मिनट में एक या दो श्वास लेगा। इससे जीवनकाल में वृद्धि होगी। अतः यह सिद्ध हुआ कि श्वास-प्रश्वास की गति का विच्छेद प्राणायाम है। यद्यपि प्राणायाम तीन प्रकार का है- पूरक, कुम्भक तथा रेचक । इसमें पूरक प्राणायाम में श्वास की सत्ता है। उसका विच्छेद नहीं। केवल कुम्भक प्राणायाम में ही दोनों का ही विच्छेद है। इस प्रकार उपर्युक्त प्राणायाम का लक्षण केवल कुम्भक प्राणायाम में ही चरितार्थ हो रहा है। पूरक और रेचक में नहीं किन्तु फिर भी लौकिक पुरुष के जो भी स्वाभाविक और अनियमित श्वास-प्रश्वास चलते रहते हैं उनका इन तीनों प्राणायामों में गतिविच्छेद होता है। अतः पूरक और रेचक में लक्षण का समन्वय होने से कोई दोष नहीं। अतः यह प्राणायाम का सामान्य लक्षण है।

प्राणायाम के भेद

यह प्राणायाम तीन प्रकार का है- बाह्यवृत्ति, आभ्यन्तरवृत्ति तथा स्तम्भवृत्ति । इन्ही तीनों का नाम क्रमशः रेचक, पूरक और कुम्भक है।

१ बाह्यवृत्ति-रेचक प्राणायाम

जिस प्राणायाम में प्रश्वास द्वारा अर्थात् अन्दर की वायु को बाहर निकालकर प्राण की स्वाभाविक गति का विच्छेद किया जाता है वह प्राणायाम बाह्यवृत्ति अर्थात् रेचक कहा जाता है।

२ आभ्यन्तरवृत्ति - पूरक प्राणायाम

जब बाहर की वायु को अन्दर खींचकर प्राण की स्वाभाविक गति का विच्छेद किया जाता है तब यह आभ्यन्तरवृत्ति अर्थात् पूरक प्राणायाम कहलाता है।

३ स्तम्भवृत्ति-कुम्भक प्राणायाम

जहाँ श्वास और प्रश्वास दोनों प्रकार की गति का अभाव होता है। वहाँ स्तम्भवृत्ति अर्थात् कुम्भक प्राणायाम कहलाता है। जैसे अच्छी प्रकार तपे हुए लोहे पर फेंका हुआ जल सब ओर से संकोच को प्राप्त होता है वैसे ही दृढ प्रयत्न से बाह्य तथा आभ्यन्तर दोनों प्रकार की प्राण की गति का एक ही साथ अभाव हो जाता है। न प्राण बाहर निकलता है और न अन्दर जाता है । इसी का नाम है स्तम्भवृत्ति प्राणायाम।

प्राणायाम को दीर्घ तथा सूक्ष्म करना

योगी का कर्त्तव्य है कि निरन्तर अभ्यास से इन तीनों प्राणायामों को दीर्घ तथा सूक्ष्म करे । दीर्घ का अर्थ है कि बहुत देर तक इनकी स्थिति हो । बहुत काल तक प्राण का रेचन हो, पूरण हो तथा स्तम्भन हो। सूक्ष्म का अर्थ है कि इतना धीरे से प्राण निकले कि पता ही न चले कि प्राण रेचन कर रहा है या पूरण कर रहा है। दीर्घ और सूक्ष्म प्राणायाम ही समाधि को सिद्ध करता है। अत: प्राणायाम को दीर्घ तथा सूक्ष्म करना ही योगी का कर्त्तव्य है।

प्राणायाम की परीक्षा

प्राणायाम दीर्घ और सूक्ष्म हुए या नहीं इसकी परीक्षा देश, काल तथा संख्या के द्वारा होती है।

देश द्वारा परीक्षा

पवनरहित स्थान में नाासिका के अग्रभाग से एक बालिश्त दूर धुनी हुई रुई रखें और यह देखें कि श्वास वहां तक पहुँच रहा है कि नहीं । रुई के हिलने और

न हिलने से इसका पता चल जायेगा। रुई हिल रही है तो प्राण दीर्घ हो रहा है। फिर इसकी लम्बाई बढ़ाएं अर्थात् रुई को थोड़ा दूर रख लें फिर परीक्षा करें । उसके पश्चात् कुछ और अधिक दूर रख लें और देखें कि रूई हिलती है या नहीं । हिलती है तो जानना चाहिये कि रेचक प्राणायाम दीर्घ हो रहा है। यह देश द्वारा परीक्षा हुई।

पूरक प्राणायाम की परीक्षा भी देश द्वारा होती है। जैसे जब प्राण ऊपर को खीचें तो पैरों से लेकर मस्तिष्क तक चींटी के चलने जैसा स्पर्श अनुभूत होता है। जब प्राण नाभि चक्र तक जाकर स्थिर हो जायें तो समझना चाहिये कि पूरक प्राणायाम दीर्घसूक्ष्म हुआ है।

जहाँ तक रेचक और पूरक पहुँचते हैं वहीं पर यदि प्राण का विलय हो जाये अर्थात् वहीं रुक जाये तो जानना चाहिये कि कुम्भक प्राणायाम दीर्घ और सूक्ष्म हुआ।

काल द्वारा परीक्षा

प्राणायाम करते समय घड़ी की सुई पर ध्यान रखें। यह ध्यान रखें कि रेचक में कितना समय लगा, पूरक में कितना समय लगा और कुम्भक में कितना समय लगा। प्राण की गति का विच्छेद एक मिनट से बढ़ाकर एक घंटा तक पहुंच जाये तो जानना चाहिये कि प्राणायाम दीर्घसूक्ष्म हुआ।

श्वास-प्रश्वास की संख्या पर ध्यान रखने से भी प्राणायाम की परीक्षा होती है। इतने समय में पहले कितने श्वास-प्रश्वास चलते थे अब इनकी संख्या कितनी है? इस प्रकार संख्या पर ध्यान देने से भी प्राणायाम की परीक्षा होती है।

बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः। योगसूत्र 2/50
यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि प्राणायाम का विषय बहुत गहन है। किसी सुयोग्य गुरु के पास रहकर ही इसका अभ्यास करना चाहिये अन्यथा हानि की सम्भावना है।

चतुर्थ प्राणायाम

उपर्युक्त रेचक, पूरक और कुम्भक से पृथक् एक चौथे प्रकार का प्राणायाम भी है जिसे केवलकुम्भक कहा जाता है। यह रेचक और पूरक दोनों से रहित है। रेचक और पूरक के मध्य में प्राण की गति का जो विच्छेद होता है वह कुम्भक तो रेचक और पूरक के साथ होता है। किन्तु जो रेचक और पूरक के बिना ही स्थायी होता है वह केवलकुम्भक कहलाता है। सिद्धयोगी अपनी

इच्छा से हजारों वर्षपर्यन्त श्वास-प्रश्वास लिये बिना ही स्थित रहता है वह प्राणायाम केवलकुम्भक है। यह प्राणायाम की पराकाष्ठा है। यह चतुर्थ प्रकार का प्राणायाम है। इसी का लक्षण सूत्रकार ने इस सूत्र में किया है-

बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः। - योगसूत्र 2/51

प्राणायाम सिद्धि का फल

प्राणायाम के दो फल सूत्रकार ने बताये हैं- पहला है मल की निवृत्ति तथा दूसरा है स्थिरता। मल की निवृत्ति का अर्थ है कि प्राणायाम के अभ्यास से विवेकख्याति का आवरण करने वाले जो अविद्यादि क्लेश हैं और उनसे उत्पन्न ज़ो पाप हैं वे दुर्बल हो जाते हैं। महामोह रूप अविद्या से चित्त आवृत रहता है। यह आवरण प्राणायाम के अभ्यास से नष्ट हो जाता है। प्राणायाम का फल सूत्रकार इस सूत्र में कह रहे हैं-

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्। योगसूत्र 2/52

यही बात पंचशिखाचार्य ने कही है कि 'तपो न परं प्राणायामात्' अर्थात् प्राणायाम से बड़ा कोई तप नहीं होता।

प्राणायाम का दूसरा फल है- स्थिरता। सूत्रकार कहते हैं-

धारणासु च योग्यता मनसः। योगसूत्र 2/53

अर्थात् प्राणायाम के अभ्यास से चित्त स्थिर होकर धारणा में योग्यता प्राप्त करता है। धारणा का स्वरूप आगे बताया जायेगा।

****

पंचम अध्याय

प्रत्याहार का स्वरूप

प्रत्याहार योग का पांचवा अंग है। यह प्रत्याहार क्या है? इसका उत्तर सूत्रकार देते हैं-

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः।

योगसूत्र 2/34

जब इन्द्रियों का अपने अपने विषय से सम्पर्क नहीं होता तो चित्त के स्वरूप के समान ही उनका भी स्वरूप हो जाता है। अर्थात् प्राणायाम के अभ्यास से जब चित्त का निरोध हो गया तो साथ ही इन्द्रियों का भी व्यापार बन्द हो जाता है। इन्द्रियों का अपने विषयों के साथ सम्बन्ध का बन्द हो जाना ही प्रत्याहार कहलाता है। यह प्रत्याहार इन्द्रियों का धर्म है चित्त का धर्म नहीं।

प्रत्याहार का फल

ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम्। योगसूत्र-2/35

प्रत्याहार का अभ्यास पूर्ण होने पर इन्द्रियाँ पूर्णरूप से योगी के वश में हो जाती हैं। यही प्रत्याहार का फल है। इसी का नाम है इन्द्रियजय अर्थात् इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर लेना। चित्त की एकाग्रता होने पर इन्द्रियों की शब्दादि विषयों में प्रवृत्ति सर्वथा रुक जाती है। इसी को इन्द्रियजय कहते हैं। यह इन्द्रियजय ही प्रत्याहार का फल है।

प्रत्याहार के भेद

शाण्डिल्योपनिषद् में प्रत्याहार के पाँच भेद किये गये हैं जो इस प्रकार हैं-

1 **विषयेषु विचरतामिन्द्रियाणां बलादाहरणं प्रत्याहारः।**

अर्थात् शब्दादि विषयों में विचरण करने वाली इन्द्रियों को बलपूर्वक विषयों से खींच लेना प्रत्याहार है।

2 यद्यत् पश्यति तत्सर्वमात्मेति प्रत्याहारः।

जो-जो दिखाई दे रहा है यह सब आत्मा का ही रूप है ऐसा समझकर विषयों से मन को हटाना भी एक प्रकार का प्रत्याहार है।

3 नित्यविहितकर्मफलत्यागः प्रत्याहारः।

नित्यकर्म और वेदोक्त कर्मों के फल का त्याग कर देना भी प्रत्याहार है।

4 सर्वविषयपराङ्मुखत्वं प्रत्याहारः।

समस्त विषयों से मुख मोड़ लेना अथवा उनकी उपेक्षा करना प्रत्याहार है।

5 अष्टदशसु मर्मस्थानेषु क्रमाद् धारणं प्रत्याहारः।

अर्थात् अठारह मर्मस्थानों में चित्त को लगाना भी प्रत्याहार है। अठारह मर्मस्थान ये हैं-1)पैर का अंगूठा, 2)गुल्फ (एड़ी), 3) जंघा, 4) जानु, 5) ऊरु, 6) पायु, 7) शिश्न, 8) नाभि, 9) हृदय, 10) कण्ठकूप, 11) तालु, 12) नासिका, 13) आँख, 14) भ्रूमध्य, 15) ललाट, और 16) सिर।

इन स्थानों में आरोह तथा अवरोह क्रम से चित्त का धारण करना भी एक प्रकार का प्रत्याहार है।

धारणा का स्वरूप

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा। योगसूत्र 3/1

किसी भी स्थानविशेष के साथ चित्त को बांधना धारणा कही जाती है। यह धारणा योग का षष्ठ अंग है। यह धारणा दो प्रकार की है- आभ्यन्तर धारणा तथा बाह्य धारणा। हृदयकमल में, मस्तक में स्थित ज्योति में, नासिका के अग्रभाग में, जिह्वा के अग्रभाग में, तालु आदि अंगों में चित्त को लगाना आभ्यन्तर धारणा है तथा सूर्य, चन्द्र, पृथिवी, पुष्पादि बाह्य पदार्थों में चित्त को धारण करना बाह्य धारणा कहलाती है।

धारणा के भेद

योगतत्त्वोपनिषद् में धारणा के पाँच भेद बताये गये हैं। वहाँ कहा गया है कि पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश में पृथक्-पृथक् देवता मानकर उनमें चित्त को लगाना चाहिये। इस प्रकार धारणा के पाँच भेद हो जाते हैं। यथा-

भूमिरापोऽनलो वायुराकाशश्चेति पञ्चकः।
तेषु पञ्चसु देवानां धारणा पंचधोच्यते।।

योगतत्त्वोपनिषद् श्लोक 83

पृथिवी में चतुर्भुजाकार चतुरानन ब्रह्मा जी की धारणा करें। जल में चतुर्भुज पीताम्बर मुकुटधारी भगवान् नारायण की धारणा करनी चाहिये। अग्नि में त्र्यम्बक भगवान् रुद्र की भावना करके वहाँ चित्त को लगाना चाहिये। वायु में सर्वगत तथा सर्वत्र ईश्वर की भावना करें तथा आकाश में बिन्दुरूप व्योमाकार भगवान् महादेव की भावना करके चित्त को धारण करना चाहिये।

इस प्रकार योगतत्त्वोपनिषद् में महाभूतों में पंच महादेवों की भावना करने से धारणा पाँच प्रकार की हो जाती है। पाँच घड़ी का समय धारणा का होता है। 24 मिनट के समय को एक घटिका कहते हैं। इस प्रकार पाँच घटिका का अर्थ हुआ दो घण्टे का समय। यदि दो घण्टे तक चित्त किसी स्थानविशेष में स्थित हो जाता है और बीच में किसी अन्य विषय में नहीं जाता तो यह समझना चाहिये कि धारणा दृढ हो चुकी है।

ध्यान का स्वरूप

धारणा के अभ्यास को यदि निरन्तर रखा जाये तो वही धारणा एक दिन ध्यान बन जाती है। धारणा का समय यदि पाँच घटिका है तो ध्यान का समय साठ घटिका है। अर्थात् यदि साठ घटिका तक चित्तवृत्ति किसी ध्येयाकार विषय में एकाग्र हो जाये तो वह धारणा ही ध्यान कही जाती है। यही बात सूत्रकार कह रहे हैं–

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्। - योगसूत्र ३/२

अर्थात् जिस स्थान में ध्येय के रूप में धारणा द्वारा चित्तवृत्ति को लगाया होवे उसी ध्येयरूप आलम्बन में चित्तवृत्ति यदि एकाग्रता को प्राप्त होवे तो यह ध्यान कहलाता है। एकाग्रता का अर्थ है कि विजातीय वृत्ति से रहित सजातीय वृत्ति का प्रवाह निरन्तर चलता रहे तो वह प्रवाह ही ध्यान कहलाता है। अर्थात् ध्यान में अन्यवृत्ति के व्यवधान से रहित केवल ध्येयविषयक वृत्ति ही साठ घटिका तक बनी रहती है।

सूत्रकार ने नाभिचक्र हृदयदेश में जो धारणा करने का निर्देश किया है उसका अर्थ यह नहीं है कि केवल उस नाभिदेश में ही धारणा करे अपितु उसका अर्थ यह है कि उस देश में स्थित परमेश्वर आदि की धारणा करे। यही बात गरुडपुराण में कही गयी है–

प्राणायामैर्दशभिर्यावत्कालकृतो भवेत्।
स तावत्कालपर्यन्तं मनो ब्रह्मणि धारयेत्॥

अर्थात् दस प्राणायाम करने में जितना समय लगता है उतने समय तक मन में ब्रह्म की धारणा करनी चाहिये।

उक्त श्लोक में धारणा का समय दस प्राणायाम की अवधि बतायी गयी है। शाण्डिल्योपनिषद् में धारणा का काल पाँच घटिका बताया गया है। धारणा और ध्यान का काल भिन्न-भिन्न हो सकता है किन्तु दोनों के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं। यागेतत्त्वोपनिषद् में साठ घटिका तक एक ध्यान की सीमा बताई गई है। यही अभिप्राय निम्नोक्त श्लोक का है-

समभ्यसेत् तथा ध्यानं घटिका षष्टिमेव च।
वायुं निरुध्य चाकाशे देवतामिष्टदामिति॥

\- योगतत्त्वोपनिषद् 104

ध्यान के भेद

शाण्डिल्योपनिषद् में ध्यान के दो भेद बताये गये हैं- सगुण ध्यान और निर्गुण ध्यान। किसी देवता की प्रतिमा का ध्यान करना सगुण ध्यान है। विशुद्ध आत्मा की यथार्थता का ध्यान करना निर्गुण ध्यान है।

अथ ध्यानम्। तद् द्विविधं सगुणं निर्गुणं चेति।
सगुणं मूर्तिध्यानम्। निर्गुणमात्मयाथात्म्यम्॥

\- शाण्डिल्योपनिषद् 1/71

ध्यान की विधि

ध्यान कैसे लगाना चाहिये इसका विवेचन गीता में किया गया है-

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥ गीता 6/13

अर्थात् शरीर, सिर और ग्रीवा को सीधा करके अचल होकर आसन पर बैठना चाहिये तथा नासिका के अग्रभाग को आँखे बन्द करके मन की आँखों से देखते रहना चाहिये। उस समय इधर-उधर न तो देखना चाहिये और न ही मन को इधर-उधर लगाना चाहिये। ऐसा करने से मन शीघ्र ही एकाग्र हो जाता है।

शरीर, सिर और ग्रीवा को सीधाई में रखने का अभिप्राय यह है कि धारणा और ध्यान बैठकर करना चाहिये, लेटकर या खड़ा होकर नहीं। जो ध्यान की विधि है वही धारणा की भी विधि है।

योगशिखा नामक उपनिषद् में सुषुम्नाध्यान को सर्वश्रेष्ठ ध्यान बताया गया है। सुषुम्ना मूलाधार में रहनेवाली एक नाड़ी है। जो रीढ़ की अस्थि के मध्य से होती हुई शिरोभाग में स्थित ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँचती है। इसलिए इसे ब्रह्मनाड़ी भी कहते है। जब योगी सुषुम्ना में ध्यान लगाता है तब वह सुषुम्ना के माध्यम से चित्त द्वारा ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचता है तब वह परम पद को प्राप्त कर लेता है-

ब्रह्मरन्ध्रं प्रविश्यान्तस्ते यान्ति परमां गतिम्। - योगशिखोपनिषद् 5/34

योगशिखा का ऋषि कहता है कि जब मन का वेग सुषुम्ना में आकर मर जाता है, जब योगी एक क्षण के लिये भी सुषुम्ना में स्थित होता है, आधे क्षण के लिये भी यदि स्थित होता है, यदि वह सुषुम्ना में जल में नमक के समान मिल जाता है, अथवा नीरक्षीर के समान लय को प्राप्त करता है तब वह योगी हृदय की ग्रन्थि का भेदन करके तथा समस्त संशयों का छेदन करके परम पद को प्राप्त करता है। इसलिये कहा गया है कि सुषुम्ना ही परम तीर्थ है, सुषुम्ना ही परम जप है, सुषम्ना ही सबसे बड़ा ध्यान है तथा सुषुम्ना ही परम गति है। अनेक यज्ञ, दान, व्रत और नियम सभी मिलकर सुषुम्ना ध्यान के सोलहवें अंश के बराबर भी नहीं है।

सुषुम्नैव परं तीर्थं सुषुम्नैव परो जपः।
सुषुम्नैव परं ध्यानं सुषुम्नैव परा गतिः।।
अनेकयज्ञदानानि व्रतानि नियमास्तथा।
सुषुम्नाध्यानयोगस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्।। योगशिखा 5/45-46

समाधि का स्वरूप

समाधि योग का आठवाँ अंग है। ध्यान की पूर्णता होने पर अगली स्थिति समाधि ही है। समाधि का स्वरूप पतञ्जलि बता रहे हैं-

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः। - योगसूत्र 3/3

अर्थात् वही ध्यान जब ध्येयमात्र का प्रकाशक तथा अपने ध्येयाकार रूप से रहित सा हो जाता है तब वह समाधि कहा जाता है।

भाव यह है कि ध्यानकाल में चित्त, चित्तवृत्ति तथा चित्तवृत्ति का विषय जिसे क्रमशः ध्याता, ध्यान और ध्येय कहा जाता है, इनका भान होता है। किन्तु जब वही ध्यान अभ्यास करते-करते अपनी ध्यानाकारता का त्याग करके केवल ध्येय में स्थित हुआ प्रतिभासित होता है तब यह समाधि कहा जाता है। जिस प्रकार जल में डाला हुआ नमक जल में रहता हुआ भी जलरूप

होने से नमक के रूप में प्रतिभासित न होकर जलरूप से ही प्रतिभासित होता है उसी प्रकार समाधिकाल में ध्यान रहता तो है किन्तु वह ध्यानरूप से भासित नहीं होता अपितु ध्येयरूप से भासित होता है। यदि समाधिकाल में ध्यान न हो तो ध्येय का प्रकाश कौन करेगा? ध्येय का प्रकाशन तो ध्यान ही करेगा। इसलिये सूत्रकार ने **'स्वरूपशून्यम् इव'** ऐसा कहा है। इसका अर्थ है कि समाधि के काल में ध्यान विद्यमान रहता है किन्तु उसकी प्रतीति न होने से स्वरूपशून्य सा होता है।

समाधि का समय ध्यान और धारणा से अधिक होता है। धारणा की अवधि पाँच नाड़ी (एक नाड़ी 24 मिनट),ध्यान की अवधि साठ नाड़ी तथा समाधि की अवधि 12 दिन होती है। स्कन्दपुराण में कहा गया है-

धारणा पंचनाडीका ध्यानं स्यात् षष्टिनाडिकम्।
दिनद्वादशकेनैव समाधिरभिधीयते॥

समाधि के भेद

यह समाधि दो प्रकार की है- सम्प्रज्ञात समाधि और असम्प्रज्ञात समाधि। अभी जो यमनियमादि आठ अंग योग के बताये गये हैं ये सम्प्रज्ञात समाधि के अंग हैं असम्प्रज्ञात समाधि के नहीं। अभी आठवें अंग के रूप में जिस समाधि का स्वरूप बताया गया है वह असम्प्रज्ञात समाधि नहीं है अपितु असम्प्रज्ञात समाधि का अंग है। दोनों में इतना अन्तर है कि अंगरूप समाधि तो ध्यान की ही एक उत्कृष्ट अवस्था है। वह स्वरूपशून्य जैसी होने से उसमें ध्येय के अतिरिक्त अन्य कोई विषय भासित नहीं होता। वह केवल ध्यानात्मक है ज्ञानात्मक नहीं। उसमें अन्य कोई ज्ञान नहीं होता, किन्तु असम्प्रज्ञात समाधि ज्ञानात्मक है। ज्ञानात्मक होने से योगी को चिन्तनमात्र से असम्प्रज्ञात काल में सकल पदार्थों का भान हो जाता है।

सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात समाधि में अन्तर यह है कि सम्प्रज्ञात समाधि में समस्त चित्तवृत्तियों का निरोध नहीं होता है किन्तु अनर्थकारिणी वृत्तियों का ही निरोध होता है। असम्प्रज्ञात समाधि में निखिल चित्तवृत्तियों का निरोध हो जाता है।

सम्प्रज्ञातसमाधि के भेद

सम्प्रज्ञातसमाधि चार प्रकार की है- वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत तथा अस्मितानुगत । इन चारों समाधियों का स्वरूप भाष्यकार व्यासदेव के

अनुसार इस प्रकार है-

1. वितर्कानुगत सम्प्रज्ञातसमाधि

स्थूल पंचमहाभूत अथवा पंचमहाभूतों से निर्मित चतुर्भुजादि भगवत्प्रतिमा वितर्क कहलाती है। इन भूतों में अथवा भौतिक प्रतिमादि आदि स्थूल ग्राह्य पदार्थों में जो समाधि की जाती है अर्थात् इनकी भावना की जाती है उसे वितर्कानुगत समाधि कहते हैं। यह ग्राह्यविषयक समाधि है।

2. विचारानुगत सम्प्रज्ञातसमाधि

पंचतन्मात्र अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इनको विचार कहा जाता है। ये महाभूतों के सूक्ष्मरूप हैं। इनको विषय बनाकर जो भावना की जाती है वह विचारानुगत सम्प्रज्ञातसमाधि कहलाती है। यह भी ग्राह्यविषयक समाधि है।

3. आनन्दानुगत सम्प्रज्ञातसमाधि

मन सहित इन्द्रियों को ग्रहण कहा जाता है। स्थूल और सूक्ष्म महाभूतों की संज्ञा ग्राह्य थी। इन्द्रियों का नाम ग्रहण है। ये इन्द्रियां चूँकि सत्त्वप्रधान होने से प्रकाशक हैं। इसलिये इन्हें आनन्द भी कहा जाता है। इनमें जो भावना की जाती है उसे आनन्दानुगत समाधि कहा जाता है।

4. अस्मितानुगत सम्प्रज्ञातसमाधि

अंहकार, बुद्धि, प्रकृति तथा पुरुष ये चारों ग्रहीता कहे जाते हैं। इन्हीं का नाम अस्मिता भी है क्योंकि अस्मि=मैं हूँ ऐसी भावना इन्हीं चारों में होती है। इन चारों को ध्येय बनाकर जब भावना की जाती है तो यह भावना अस्मितानुगत समाधि कहलाती है। यह ग्रहीतृविषयक समाधि है।

इस प्रकार ग्राह्य, ग्रहण और ग्रहीता को विषय बनाकर जो समाधि की जाती है वह वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता विषयक सम्प्रज्ञातसमाधि कही जाती है। इसी बात को सूत्रकार कह रहे हैं-

क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु
तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः। - योगसूत्र 1/41

अर्थात् निर्मल स्फटिक मणि के समान राजस और तामस वृत्ति से रहित चित्त की जो उपर्युक्त ग्रहीता, ग्रहण और ग्राह्य पदार्थों में एकाग्रता प्राप्त करके इन विषयों की आकारता है वह सम्प्रज्ञात समाधि कही जाती है।

यहाँ जो निर्मल स्फटिक मणि का दृष्टान्त दिया गया है उसका भाव यह है कि जिस प्रकार निर्मल स्फटिक मणि रक्त, पीत, नील आदि वर्ण विशिष्ट जपाकुसुम आदि उपाधि की सन्निधि से उस-उस उपाधि से उपरक्त

होता हुआ उस-उस उपाधि के आकार से प्रतिभासित होता है, उसी प्रकार राजस-तामसवृत्ति से रहित निर्मल चित्त उक्त पुरुष, प्रकृति, बुद्धि, अहंकार, इन्द्रिय, तन्मात्र तथा महाभूतों से उपरक्त होकर उस-उस आकार से भासित होता है। वही समाधि सम्प्रज्ञात कहलाती है।

वितर्कानुगतसमाधि के भेद

पंच महाभूत और भौतिक पदार्थों को ध्येयरूप से विषय बनाने वाली ध्येयाकारवृत्ति को वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात समाधि कहा गया। यह वितर्कानुगतसमाधि दो प्रकार की है- सवितर्क और निर्वितर्क। सवितर्क समाधि का लक्षण सूत्रकार बताते हैं-

सवितर्कसमाधि

तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः।- योगसूत्र 1/42

अर्थात् जिस समाधि में शब्द, अर्थ तथा ज्ञानरूप भिन्न-भिन्न पदार्थों का अभेदरूप से भान होता है वह सवितर्कसमाधि कही जाती है। समापत्ति और समाधि पर्यायवाची शब्द हैं। इसी का नाम सविकल्पसमाधि है।

भाव यह है कि शब्द, अर्थ और ज्ञान ये तीनों पृथक्-पृथक् पदार्थ हैं। कण्ठ, तालु आदि स्थानों से उच्चरित होने वाला और श्रोत्रेन्द्रिय से गृहीत होने वाला जो गौ शब्द है उसका उच्चारण 'गौ' होता है। इसी को शब्द कहते हैं। गौशाला में अथवा गोष्ठ में स्थित जो श्रृंग गलकम्बल आदि से युक्त आकारवान् व्यक्ति है वह गौ शब्द का अर्थ है। फिर गौ को देखकर चित्त में जो तदाकार वृत्ति उत्पन्न होती है वह गौ का ज्ञान है। इस प्रकार शब्द, अर्थ तथा ज्ञान पृथक्-पृथक् हैं फिर भी उनका ज्ञान अविभाग रूप से देखा गया है। भिन्न-भिन्न पदार्थों की इसी एक सी प्रतीति को शब्दार्थज्ञानविकल्प कहते हैं क्योंकि वह शब्दज्ञानानुपाती तथा वस्तुशून्य है।

इस बात को थोड़ा और स्पष्ट करने की आवश्यकता है। इस बात को यूँ समझें कि जब कोई व्यक्ति 'गौ' का उच्चारण करके किसी से यह पूछे कि - यह क्या है? तो वह कहेगा यह गौ है। फिर पूछा जाये कि - खेत में जो श्रृंग गलकम्बल आदि से युक्त आकृति वाला प्राणी चर रहा है वह क्या है? तो फिर उत्तर मिलेगा कि 'यह गौ है।' फिर पूछा जाये कि इसको देखकर आपके चित्त में जो वृत्ति बनी है वह क्या है? तो फिर उत्तर मिलेगा कि यह गौ है। इस प्रकार तीनों स्थानों पर 'गौ है, गौ है' ऐसा ही उच्चारण किया गया है। किन्तु जहाँ गौ शब्द है वहाँ गौ अर्थ और गौ ज्ञान नहीं है। फिर भी गौ शब्द के साथ दोनों अभिन्न होकर भासते हैं। अतः यह ज्ञान विकल्परूप है। इसी

प्रकार जहाँ गौ अर्थ है वहां गौ शब्द और गौ ज्ञान नहीं है। जहाँ गौ ज्ञान है वहाँ शब्द, अर्थ और ज्ञान का ऐसा परस्पर सम्बन्ध है कि इन तीनों के भिन्न-भिन्न होने पर भी एक का ज्ञान होने पर दूसरे दोनों की अवश्य उपस्थिति हो जाती है। इस अभेद का ज्ञान होना ही यहाँ शब्दार्थज्ञान की संकीर्णता है।

जब विचारदृष्टि से देखा जाता है तो ज्ञात होता है कि शब्द के धर्म अन्य हैं, अर्थ के धर्म अन्य हैं और ज्ञान के धर्म अन्य हैं। शब्द कण्ठ में रहता है, अर्थ भूमि पर रहता है और ज्ञान चित्त में रहता है। ये तीनों पृथक् हैं फिर भी इनका भान अभिन्नरूप से होता है।

इस प्रकार जिस समाधिप्रज्ञा में कोई स्थूलभूत या प्रतिमा आदि अन्य पदार्थ उक्त शब्द, अर्थ और ज्ञान से संकीर्ण होकर भासते हैं तो उस प्रज्ञा को सवितर्क सम्प्रज्ञातसमाधि कहते हैं।

सम्प्रज्ञात समाधि में जो प्रतीति होती है वह प्रत्यक्ष प्रतीति है। यह प्रतीति दो प्रकार की है- परप्रत्यक्ष तथा अपरप्रत्यक्ष। सवितर्क समाधि की जो प्रज्ञा है वह अपरप्रत्यक्ष है। निवितर्क सम्प्रज्ञातसमाधि की जो प्रज्ञा है वह परप्रत्यक्ष है।

निर्वितर्कसम्प्रज्ञातसमाधि

निर्वितर्कसमाधि का लक्षण सूत्रकार करते हैं-

स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का। - योगसूत्र 1/43

अर्थात् स्मृति की परिशुद्धि होने पर अर्थात् आगम और अनुमानज्ञान के कारण शब्दसंकेतस्मृति के दूर होने पर केवल ग्राह्य अर्थ का ही प्रकाश करने वाली, ग्रहणाकार से रहित चित्तवृत्ति है। वह निर्वितर्क समाधि कहलाती है।

सवितर्क और निर्वितर्क समाधि में यह अन्तर है कि सवितर्क समाधि शब्दसंकेत के स्मरणपूर्वक होती है। निर्वितर्क समाधि शब्दसंकेत स्मरण पूर्वक नहीं होती। सवितर्का समापत्ति का विषय ग्राह्य भी होता है और ग्रहणाकार ज्ञान भी होता है किन्तु निर्वितर्का समापत्ति ग्रहणाकारज्ञान से रहित केवल ग्राह्याकार होती है। केवल अर्थ ही उसका विषय होता है। सवितर्क समाधि में शब्द, अर्थ और ज्ञान का संकीर्णात्मक ज्ञान होता है। अतः वह ज्ञानाभासरूप है किन्तु निर्वितर्क समापत्ति उस संकीर्णता से रहित केवल अर्थविषयक होती है। अतः वह यथार्थ ज्ञानरूप है।

निर्वितर्का समापत्ति को **'स्वरूपशून्या इव'** कहा गया है। इसका आशय यह है कि यद्यपि इसमें ग्राह्यरूप अर्थाकार चित्तवृत्ति विद्यमान रहती है

फिर भी वह स्वरूप से भासती नहीं है। अतः उक्त वृत्ति रहती हुई भी ध्येयरूप हो जाने से नहीं के बराबर है। निर्वितर्क समाधि में शब्द तथा ज्ञान का अर्थ के साथ संकीर्णरूप से भान न होकर केवल ग्राह्यरूप स्थूल घटादि पदार्थों के स्वरूप का ही योगियों को इस दशा में भान होता है।

विचारानुगत समाधि के दो भेद

वितर्कानुगत समाधि के समान विचारानुगत समाधि के भी दो भेद हैं– सविचार समाधि तथा निर्विचार समाधि। जैसे स्थूल पदार्थों में शब्द, अर्थ और ज्ञान से संकीर्णभावना सवितर्का कहलाती है तथा शब्दार्थज्ञान से असंकीर्णभावना निर्वितर्क कहलाती है उसी प्रकार देशादिज्ञान के अभावपूर्वक जो समाधि है वह निर्विचार समाधि कहलाती है।

सविचार सम्प्रज्ञानसमाधि

परमाणु तथा पंचतन्मात्र को ध्येयरूप से विषय करने वाली समाधि विचारानुगतसमाधि कहलाती है। वह विचारानुगतसमाधि यदि उस ध्येयवस्तु के देश, काल और निमित्त के ज्ञानपूर्वक होती है तो यह समाधि सविचार कहलाती है। अर्थात् जिस सूक्ष्मभूत का ध्यान योगी कर रहा है यदि उस ध्येयवस्तु का देश अर्थात् स्थान ज्ञात है, उसका काल क्या है, और उसका निमित्त क्या है यह भी ज्ञान हो रहा है तो यह समाधि सविचार कहलाती है। इस प्रकार देश, काल और निमित्त के ज्ञान से संकीर्ण समाधि सविचार है। इस बात को भाष्यकार इन शब्दों से कह रहे हैं–

> **तत्र भूतसूक्ष्मेषु अभिव्यक्तधर्मकेषु देशकाल-**
> **निमित्तानुभवावच्छिन्नेषु या समापत्तिः सा**
> **सविचारेत्युच्यते।**

– व्यासभाष्य 1/44

निर्विचारसमाधि

जब वही समाधि सब प्रकार से समस्त देश, काल और निमित्त के ज्ञान से रहित भूत, वर्त्तमान तथा भविष्यकाल के धर्मों से रहित सूक्ष्मभूतों में होती है तो वह निर्विचार समाधि कहलाती है। इसे निर्विचार इसलिये कहा जाता है क्योंकि यह ध्येयवस्तु के कार्यकारणभाव के विचार से रहित होती है। निर्वितर्कसमाधि के समान इस निर्विचारसमाधि में भी प्रज्ञा नामक चित्तवृत्ति स्वरूपशून्य होकर ध्येयमात्र हो जाती है।

इस प्रकार निष्कर्ष यह हुआ कि जिस अवस्था में समाधिवृत्ति स्वरूपशून्य सी होकर अर्थात् विद्यमान होती हुई भी अविद्यमान के समान केवल सूक्ष्मपदार्थविषयक होती है वह समाधिवृत्ति निर्विचार कही जाती है।

इस प्रकार सम्प्रज्ञातसमाधि आठ प्रकार की हुई। पहले वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत तथा अस्मितानुगत ये चार भेद किये गये। पुनः सवितर्क और निर्वितर्कसमाधि के भेद से वितर्कानुगतसमाधि दो प्रकार की हुई और विचारानुगतसमाधि के भी दो भेद हुए- सविचार और निर्विचार। इस प्रकार सम्प्रज्ञात समाधि के कुल आठ भेद हुए।

ये सभी आठ प्रकार की सम्प्रज्ञातसमाधियाँ सबीजसमाधियाँ कहलाती हैं क्योंकि इन सभी समाधियों में कोई न कोई आलम्बन है। यह ध्येयरूप आलम्बन ही बीज कहलाता है। असम्प्रज्ञातसमाधि सबीज नहीं कहलाती अपितु वह निर्बीजसमाधि कहलाती है।

ऋतम्भरा प्रज्ञा

जब निर्विचारसमाधि में विशारदता प्राप्त हो जाती है तो योगी को अध्यात्मप्रसाद का लाभ होता है। विशारदता का अर्थ है कि निर्विचारसमाधि के अभ्यास से जब चित्त का अशुद्धिरूप मल सर्वथा दूर हो जाता है तो प्रकाशरूप निर्मल चित्त का प्रवाह निरन्तर बना रहता है। चित्त का यह स्वच्छ प्रवाह ही विशारदता है। इसकी सिद्धि होने पर योगी को समस्त पदार्थों का यथार्थज्ञान हो जाता है। इसी यथार्थज्ञान को अध्यात्मप्रसाद कहा जाता है। सूत्रकार कहते हैं-

निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः। - योगसूत्र 1/47

इस अध्यात्मप्रसाद की प्राप्ति होने पर योगी समस्त शोकों से रहित हो जाता है। इस बात को भाष्यकार कह रहे हैं-

प्रज्ञाप्रसादमारूह्य अशोच्यः शोचतो जनान्।
भूमिष्ठानिव शैलस्थः सर्वान् प्राज्ञोऽनुपश्यति।। - योगसूत्र 1/47

अर्थात् इस अध्यात्मप्रसादरूप बुद्धि का दूसरा नाम ऋतम्भरा प्रज्ञा है। इसका यह नाम सार्थक भी है क्योंकि यह ऋत अर्थात् सत्य को ही धारण करती है। विपरीत ज्ञान की गन्ध भी वहाँ नहीं होती।

यह ऋतत्भरा प्रज्ञा शास्त्रज्ञान तथा अनुमानज्ञान से भिन्न विषय वाली होती है। यही बात सूत्रकार कह रहे हैं-

श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात्। - योगसूत्र 1/49

अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण तो केवल वर्त्तमानविषयक है क्योंकि वर्त्तमान काल

के पदार्थों का ज्ञान कराने में ही इन्द्रियाँ समर्थ हैं। अनुमान और शास्त्रप्रमाण परोक्षविषयक हैं किन्तु यह ऋतम्भराप्रज्ञा तो त्रैकालिक पदार्थविषयक है। भूत, वर्त्तमान और भविष्यत् तीनों कालों के पदार्थों का ज्ञान ऋतम्भराप्रज्ञा से होता है। अत: यह प्रज्ञा अन्य तीनों प्रज्ञाओं से श्रेष्ठ है।

सम्प्रज्ञातसमाधि का फल

यह पहले कहा जा चुका है कि उक्त सभी सम्प्रज्ञातसमाधियाँ सालम्ब अर्थात् सबीज हैं। कुछ न कुछ अज्ञान तो उनमें रहता ही है। इनमें से निर्विचारसमाधि को पृथक् कर देना चाहिये। यद्यपि निर्विचार की विशारदता प्राप्त होने पर ऋतम्भराप्रज्ञा का उदय होता है उससे यथार्थज्ञान की प्राप्ति होती है फिर भी वह सबीज ही कही जायेगी क्योंकि जिसे हम बीज कहते हैं वह अज्ञान ही तो है। ऋतम्भरा से यह ज्ञान होता है कि यह अज्ञान है। अज्ञान का भी यथार्थज्ञान ऋतम्भरा से ही होता है। इसलिये अज्ञानमूलक होने से सम्प्रज्ञातसमाधि का फल भी अनन्त नहीं होता अपितु उसका फल सीमित होता है। अर्थात् वे एक निश्चित अवधि तक कैवल्य-सा सुख भोगते हैं। कैवल्य -सा कहने का अभिप्राय यह है कि वे कैवल्य प्राप्त नहीं करते। कैवल्य तो असम्प्रज्ञातसमाधि से ही होता है क्योंकि वह निर्बीजसमाधि है। अज्ञानरूप बीज वहाँ नहीं है। सम्प्रज्ञातसमाधि से तो कैवल्य जैसा सुख योगी को प्राप्त होता है। किस बीज की समाधि से कितने समय तक कैवल्यसुख प्राप्त होता है, इसका विवेचन वायुपुराण में किया गया है। वहाँ कहा गया है-

दशमन्वतराणीह तिष्ठन्तीन्द्रियचिन्तकाः।
भौतिकास्तु शतं पूर्णं सहस्रं त्वाभिमानिकाः॥
बौद्धा दशसहस्त्राणि तिष्ठन्ति विगतज्वराः।
पूर्णं शतसहस्त्रं तु तिष्ठन्त्यव्यक्तचिन्तकाः॥
पुरुषं निर्गुणं प्राप्य कालसंख्या न विद्यते॥

मनुष्य की वर्षगणना के अनुसार 4320000(तैंतालीस लाख बीस हजार) वर्ष की एक चतुर्युगी होती है। 25565 चतुयुगियों का एक मन्वन्तर होता है। जो योगी इन्द्रियों को ही आत्मा मानकर समाधि करते हैं वे योगी शरीर छूटने के पश्चात् दश मन्वन्तर तक कैवल्यसुख भोगकर फिर संसार में लौट आते हैं। इसी प्रकार भूतों को आत्मा मानकर ध्यान करने वाला योगी एक सौ मन्वन्तरपर्यन्त कैवल्यसुख भोगते हैं। अहंकार चिन्तक एक सहस्त्र मन्वन्तर तक कैवल्य में स्थित रहते हैं। दश सहस्त्र मन्वन्तर तक बुद्धिचिन्तक और एक लाख

मन्वन्तरपर्यन्त प्रकृति को ही आत्मा मानकर समाधि लगाने वाले योगी कैवल्यवत् सुख भोगकर पुनः इस धराधाम पर लौट आते हैं।

इतनी ही अवधि है इन योगियों की। इसलिए सम्प्रज्ञातसमाधि पूर्ण समाधि नहीं है। असम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था प्राप्त होने तक योगी को अभ्यास निरन्तर करते रहना चाहिये।

असम्प्रज्ञातसमाधि का स्वरूप

पूर्वोक्त वितर्क विचार आनन्द और अस्मितारूप वृत्ति का नाश करने वाला जो परवैराग्य है उसका अभ्यास करने पर चित्त निखिल वृत्तियों से रहित होकर स्वरूप से अवस्थित होता है। यह स्वरूप से अवस्थित होना ही असम्प्रज्ञान समाधि है। स्वरूपमात्र को ही संस्कारशेष कहा गया है:

विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः। - योगसूत्र 1/18

सूत्रकार का अभिप्राय यह है कि जैसे भाड़ में भुने हुए बीज से अंकुर उत्पन्न नहीं होता, बीज उस समय संस्काररूप से शेष रहता है अर्थात् ऊपर से देखने पर यह प्रतीत तो होता है कि यह बीज है किन्तु वह बीज नहीं होता, वैसे ही परवैराग्य के अभ्यास से निरुद्ध हुआ चित्त भी वृत्तिरूप अंकुर उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होता। वह केवल स्वरूप से शेष रहता है। उसी को **संस्कारशेष** कहा गया है। वही चित्त की अवस्था असम्प्रज्ञात कही गयी है। यही निर्बीजसमाधि है। उसमें ऋतम्भराप्रज्ञा भी नहीं होती।

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि असम्प्रज्ञातसमाधि का हेतु परवैराग्य है अपरवैराग्य नहीं। इस परवैराग्य के अभ्यास से चित्त निरालम्ब, निर्बीज होता हुआ अभावप्राप्त के समान हो जाता है। इसे निर्बीज इसलिये कहा जाता है क्योंकि इसमें जन्म-मरण की बीजभूत अविद्या का सर्वथा अभाव हो जाता है। इसी समाधि को धर्ममेघसमाधि भी कहा गया है क्योंकि यह समाधि मेघ के समान ब्रह्मानन्दरूप अमृत की वर्षा करती है। इस अवस्था में योगी का ज्ञानप्रसाद परवैराग्य, असम्प्रज्ञातसमाधि तथा आत्मा एकरूप हो जाते हैं। ऐसे ज्ञान वाले योगी को ब्रह्मविद्वरिष्ठ कहा जाता है। यही अवस्था योगी की कर्त्तव्यसमाप्तिरूप कृतकृत्यता कही जाती है। ऐसे ही योगी के दर्शन से आँखें कृत्कृत्य होती हैं तथा अन्य जीवों का उद्धार होता है।

असम्प्रज्ञातसमाधि के दो भेद

असम्प्रज्ञातसमाधि के भी दो भेद हैं- भवप्रत्यय और उपायप्रत्यय।

भवप्रत्यय असम्प्रज्ञात योग विदेह तथा प्रकृतिलय योगियों का होता है तथा उपायप्रत्यय मुमुक्षु योगियों के लिये होता है।

भवप्रत्यय

भवप्रत्यय का अर्थ है अज्ञान जिसका कारण है। पंचमहाभूत तथा इन्द्रियरूप अनात्म पदार्थों में से किसी एक में आत्मबुद्धि करके जो समाधि करते हैं ऐसे योगी विदेह कहलाते हैं। प्रकृति, महतत्त्व, अहंकार तथा पंचतन्मात्ररूप अनात्मपदार्थों में से किसी एक में आत्मबुद्धि करके समाधि का अभ्यास करने वाले असम्प्रज्ञातयोगी प्रकृतिलय कहलाते है। अनात्म में आत्मबुद्धि करना ही तो अविद्या है। भव शब्द का अर्थ भी अविद्या है। 'भवन्ति जायन्ते जन्तवो अस्याम् इति भवो अविद्या' यह भवशब्द की व्युत्पत्ति है। क्योंकि इसमें प्राणी पुनः जन्म लेते हैं इसलिये अविद्या को भव कहा जाता हैं विदेह तथा प्रकृतिलय योगियों का जों संस्कारशेषरूप वृत्तिनिरोध है वह भवप्रत्यय अर्थात् अविद्याजन्य ही है।

विदेह तथा प्रकृतिलय योगियों का वृत्तिनिरोध सावधिक होता है अर्थात् निश्चित काल तक ही रहता है। काल व्यतीत होने पर उनका चित्त साधिकार होने से वे फिर जन्ममरणरूप संसार में लौट आते हैं। अतः संस्कारशेष वृत्तिनिरोध भवप्रत्यय अर्थात् संसार का कारण है मोक्ष का नहीं। अतः मुमुक्षु के लिये यह उपादेय नहीं।

जो चित्त विवेकज्ञानयुक्त होकर प्रकृति में लीन होता है वह निरधिकार होने से फिर संसार में नहीं आता है और सुषुप्ति प्रलयादि में चित्त विवेकज्ञानरहित होकर प्रकृति में लीन होता है वह साधिकार होने से फिर संसार में आता है। साधिकार का अर्थ है कि अभी उसका भोगरूप अधिकार शेष है। उपायप्रत्यय वाले योगियों का चित्त विवेकज्ञानयुक्त एवं निरधिकार होकर प्रकृति में लीन होता है। अतः फिर वह संसार में नहीं आता है। अविवेकी पुरुषों का चित्त विवेकज्ञानरहित एवं साधिकार होकर प्रकृति में लीन होता है अतः वह फिर संसार में आता है। चूँकि भवप्रत्यय नामक योगियों का चित्त विवेकज्ञानरहित होकर प्रकृति में लीन होता है अतः वह साधिकार होने से फिर संसार में आता है। यही बात 'भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम्' इस सूत्र के भाष्य में व्यासदेव कह रहे हैं-

साधिकारे चेतसि प्रकृतिलीने कैवल्यपदमिवानु-
भवन्ति यावन्न पुनरावर्ततेऽधिकारवशाच्चित्तमिति।

- व्यासभाष्य1/19

उपाय प्रत्यय

जब योगी केवल निर्गुण आत्मतत्त्व में श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञापूर्वक वृत्तिनिरोध करता है तो उसका संस्कारशेष वह वृत्तिनिरोध उपायप्रत्यय असम्प्रज्ञातयोग कहलाता है। ऐसे योगी का चित्त प्रकृति में लीन होकर पुनः संसार में नहीं आता है। वायुपुराण में यही बात कही गयी है-

निर्गुणं पुरुषं प्राप्य कालसंख्या न विद्यते।

उपायप्रत्यय असम्प्रज्ञातयोग वास्तविक योगियों का है। यह बात स्वयं सूत्रकार कह रहे हैं-

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्। - योगसूत्र 1/20

यहाँ शंका होती है कि पूर्वोक्त सम्प्रज्ञातयोगी तथा विदेह और प्रकृतिलय नामक उपासक भी तो श्रद्धायुक्त होते हैं तो उनका वृतिनिरोध उपायप्रत्यय क्यों नहीं?

इसका उत्तर भाष्यकार देते हैं कि उपायप्रत्यय योगियों के लिये जिन श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा को उपादेय कहा गया है वह सामान्य श्रद्धा नहीं है। यह श्रद्धा चित्त का सम्प्रसादरूप है। सम्प्रज्ञातयोगी तथा विदेह और प्रकृतिलय नामक असम्प्रज्ञातयोगी भी श्रद्धायुक्त होते हैं किन्तु उनकी श्रद्धा चित्तसम्प्रसादरूप नहीं है। उनकी श्रद्धा निर्गुण पुरुष में नहीं है अपितु इन्द्रियादि अनात्म पदार्थों में है। चित्त की प्रसन्नतारूप श्रद्धा अनात्म पदार्थों में आत्माभिमानियों को सम्भव नहीं है। मोक्षाभिलाषी योगियों की अभिरुचि ही श्रद्धा कहलाती है। भाष्यकार कहते हैं कि-

सा हि जननीव कल्याणी योगिनं पाति। - व्यासभाष्य 1/20

वह श्रद्धा माता के समान कल्याणी है जो योगी की रक्षा करती है। अनात्म पदार्थों में आत्मा का अभिमान करने वाले विदेह और प्रकृतिलीन योगियों की श्रद्धा कल्याणकारिणी नहीं होती क्योंकि वह संसार का हेतु है।

श्रद्धावान् विवेकाभिलाषी योगी में प्रयत्नरूप उत्साह उत्पन्न होता है। यह उत्साह ही वीर्य है। जब उक्त वीर्य योगी में उत्पन्न होता है तो स्मृति अर्थात् एकाग्रतारूप ध्यान की प्राप्ति होती है। उक्त स्मृति की प्राप्ति होने पर चित्त समाहित हो जाता है। समाहित चित्त में प्रज्ञाविवेक अर्थात् बुद्धिप्रकर्ष उत्पन्न होता है। इसी प्रज्ञा से योगी यथार्थवस्तु को जानता है। यही उपायप्रत्यय योग है।

असम्प्रज्ञातयोग में परवैराग्य के अभ्यास से उक्त विवेक ज्ञान के प्रति भी वैराग्य हो जाता है। उस वैराग्य से वह विवेकज्ञान स्वतः ही शान्त हो जाता है। इस प्रकार निष्कर्ष यह हुआ कि श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि तथा प्रज्ञा इन

उपायों से जो संस्कारशेषरूप निरोधसमाधि योगियों को प्राप्त होती है वह उपायप्रत्यय नामक असम्प्रज्ञातयोग कही जाती है। इस अवस्था में अधिकारहीन चित्त चरितार्थ होकर प्रकृति में लीन हो जाता है और पुनः संसार में नहीं आता।

कैवल्य का स्वरूप

योगदर्शन के अनुसार आत्मा का स्वरूप में अवस्थान ही कैवल्य कहलाता है। असम्प्रज्ञातसमाधि काल में पुरुष स्वरूप में अवस्थित होता है। शान्त, घोर तथा मूढधर्मों से रहित निर्विषय चैतन्यमात्र ही पुरुष का स्वरूप है। जैसे जपाकुसुम के हट जाने से स्फटिक अपने स्वच्छ शुद्ध स्वरूप में अवस्थित होता है, वैसे ही वृत्ति के हट जाने से वृत्ति के प्रतिबिम्ब से रहित पुरुष अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाता है। उस समय वह स्वयं को सुखी-दुःखी और अज्ञानी नहीं मानता है।

भाव यह है कि चित्त त्रिगुणात्मक है। त्रिगुणात्मक होने से शान्त, घोर तथा मूढरूप है। उसके साथ पुरुष को तादात्म्य का अभिमान होने से पुरुष में भी औपाधिक शान्त, घोर और मूढरूप धर्म भासने लगते हैं। जब वृत्तिसहित चित्त अपने कारणरूप प्रकृति में लीन हो जाता है तो पुरुष में जो शान्त, घोरादि धर्म भासते थे वे नहीं भासते हैं। पुरुष का यह स्वरूप में अवस्थित होना ही कैवल्य की दशा कहलाती है।

वृत्तिदशा में पुरुष स्वरूप में अवस्थित नहीं होता अपितु वृत्तिस्वरूप ही होता है। यही बात सूत्रकार ने –

'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' तथा 'वृत्तिसारूप्यमितरत्र।'

योगसूत्र 1/3-4

इन दो सूत्रों में कही है। अर्थात् व्युत्थानकाल में आत्मा या पुरुष निजरूप से न भासकर बुद्धि के दिये हुए शान्तादिवृत्तियों से युक्त होकर भासता है।

यहाँ शंका हो सकती है कि यदि व्युत्थानकाल में पुरुष स्वरूप में प्रतिष्ठित नहीं होता और निरुद्ध अवस्था में वह स्वरूप में अवस्थित होता है यह तो एक प्रकार का परिणाम है। इस परिणाम से चितिशक्ति पुरुष भी परिणामी हो जायेगा। यदि व्युत्थानकाल में भी पुरुष की स्वरूप में प्रतिष्ठा मानेंगें तो व्युत्थान और निरुद्ध अवस्था में क्या अन्तर रह जायेगा?

उक्त शंका का उत्तर यह है कि व्युत्थानकाल में यद्यपि पुरुष रहता तो पूर्ववत् ही है किन्तु वैसा प्रतीत नहीं होता है। अतः व्युत्थान और निरुद्धदशा में अन्तर है।

बन्धन और मोक्ष

योगदर्शन के अनुसार प्रकृति और पुरुष का संयोग ही बन्धन है और इन दोनों का वियोग ही मोक्ष है। प्रकृति और पुरुष का संयोग अनादि है। यह संयोग अविद्या के कारण होता है। जब विवेकज्ञान से अविद्या का अभाव हो जाता है तो प्रकृति और पुरुष के संयोग का भी अभाव हो जाता है। यही मोक्ष या कैवल्य है। सूत्रकार कहते हैं-

तदभावात् संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम्। - योगसूत्र 2/26

प्रकृति के दो प्रयोजन हैं- भोग और मोक्ष। बुद्धि के माध्यम से प्रकृति सर्वप्रथम पुरुष के लिये भोग प्रदान करती है और पुनः मोक्ष प्रदान करती है। जब उसके ये दोनों प्रयोजन सिद्ध हो जाते हैं तो प्रकृति पुरुष का साथ छोड़ देती है। चित्त भी अपने कारणरूप प्रकृति में लीन हो जाता है। सूत्रकार कहते हैं-

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं
स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति।। - योगसूत्र 4/34

अर्थात् बुद्धि आदि के रूप में परिणत गुणों का जब भोग और अपवर्गरूप प्रयोजन सिद्ध हो जाता है तो वे अपने-अपने कारणों में लीन हो जाते हैं। यह प्रकृति का कैवल्य है। तथा चितिशक्तिरूप पुरुष वृत्तिसारूप्य की निवृत्ति होने पर स्वरूप में अवस्थित हो जाता है। यह पुरुष का कैवल्य है।

इस प्रकार कैवल्य दो प्रकार का हुआ- गुणों का प्रकृति में लय होना और पुरुष का स्वरूप में अवस्थित होना। प्रथम मोक्ष प्रकृति को होता है और दूसरा मोक्ष पुरुष को होता है। प्रकृति पुरुषार्थ से मुक्त हो गयी और पुरुष गुणों से मुक्त हुआ। चितिशक्तिरूप पुरुष का सर्वदा उसी प्रकार से अवस्थित रहना ही पुरुष का कैवल्य है।

कैवल्य का उपाय

असम्प्रज्ञातसमाधि में प्राप्त सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिरूप विवेकज्ञान ही कैवल्य का एकमात्र उपाय है। यद्यपि अविद्या की निवृत्ति ही मोक्ष का हेतु है किन्तु अविद्या की निवृत्ति विवेकज्ञान द्वारा होती है। अतः विवेकज्ञान ही कैवल्य का उपाय है। सूत्रकार कहते हैं-

विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः। - योगसूत्र 2/26

अर्थात् मिथ्याज्ञानरूप विप्लव से रहित विवेकख्याति ही अविद्या की निवृत्ति का तथा कैवल्य का हेतु है। शास्त्रजन्यज्ञान से अविद्या की निवृत्ति नहीं होती क्योंकि वह परोक्षज्ञान है। विवेकख्याति अपरोक्षज्ञान है। इसी से अविद्या

की निवृत्ति होती है।

यहाँ यह शंका होती है कि जब विवेकज्ञान द्वारा पुरुष स्वरूप में अवस्थित हो जाता है उस समय दृश्यजगत् तथा उसका कारणभूत प्रकृति रहती है या नष्ट हो जाती है?

इसका उत्तर सूत्रकार देते हैं कि विवेकज्ञान से युक्त मुक्तपुरुष के प्रति वह दृश्य प्रकृति आदि नष्ट होकर भी अन्य अविवेकी पुरुषों के प्रति विद्यमान रहती है उसका नाश नहीं होता। यही बात सूत्रकार कह रहे हैं-

कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात्। - योगसूत्र 2/22

जैसे लोक में यदि कोई अन्धा हो जाये तो वह रूप को नहीं देखता तो इससे रूप का नाश नहीं माना जाता। जो अन्धे नहीं है उनके लिये रूप विद्यमान है। वैसे ही जिसको विवेकज्ञान हो गया है वह दृश्य को नहीं देखता है। इससे ऐसा नहीं माना जाता कि दृश्य नष्ट हो गया।

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां वह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणो ऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥

अर्थात् सत्त्व, रजस् और तमस्रूप त्रिगुणात्मक प्रकृति अजन्मा है। यह त्रिगुणात्मक प्रजाओं को उत्पन्न करती है। उस प्रकृति को एक अजन्मा बद्धपुरुष तो भोगता हुआ अनुताप करता है और दूसरा अजन्मा मुक्तपुरुष भोग और मोक्ष देकर कृतकार्य हुई प्रकृति को छोड देता है।

कैवल्य के भेद

यह कैवल्य या मुक्ति दो प्रकार की है- जीवन्मुक्ति तथा विदेहमुक्ति या आत्यन्तिक मुक्ति। जीवनकाल में तत्त्वज्ञान होने पर पुरुष का जो स्वरूपावस्थान होता है वह जीवन्मुक्ति है और मृत्यु के पश्चात् देहपात होने पर विदेहमुक्ति होती है।

तत्त्वज्ञान होने पर भी आयु के शेष रहते हुए शरीर संस्कारवश चलता रहता है वह काल जीवन्मुक्तिकाल कहलाता है। उस काल में योगी जो कर्म करता है वे कर्म न तो शुक्ल होते हैं और न कृष्ण। क्योंकि उन कर्मों से संस्कार नहीं बनते। संस्कार उन्हीं कर्मों से बनते हैं जिनके साथ मन का सम्बन्ध होता है। योगी के कर्म मन से नहीं किये जाते, वे तो पूर्व अभ्यास के कारण स्वचालित यन्त्र के समान स्वयमेव होते रहते हैं। जैसे कुम्भकार का चक्र दण्ड हटा लेने पर भी पूर्वगति के संस्कार के कारण कुछ देर तक चलता रहता है। गति का संस्कार समाप्त होते ही चक्र स्वयमेव रुक जाता है। जीवन्मुक्त पुरुष की भी यही दशा है। वह भी पूर्व संस्कारवश देह से जीवित रहता है।

आयु समाप्त होते ही वह विदेहमुक्त हो जाता है और वह फिर जन्ममरण के चक्ररूप इस संसार में नहीं आता। यही विदेहमुक्ति अथवा आत्यन्तिकमुक्ति है।

जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति का यही स्वरूप ईश्वरकृष्ण ने सांख्यकारिका में किया है-

सम्यग्यज्ञानाधिगमाद् धर्मादीनामकारणप्राप्तौ।
तिष्ठति संस्कारवशात् चक्रभ्रमिवद्धृतशरीरः।।
प्राप्ते शरीरभेदे चरितार्थत्वात् प्रधानविनिवृत्तौ।
ऐकान्तिकमात्यन्तिकमुभयं कैवल्यमाप्नोति।। - सांख्यकारिका 67-68

****

पातंजल योग सूत्र- मूल, हिन्दी अंग्रेजी अनुवाद सहित

प्रथम पाद

समाधि पाद

1-अथ योगानुशासनम्।

गुरुशिष्य परम्परा से आगत अनादि योगशास्त्र का यहाँ से प्रारम्भ होता है।
Now we commence the exposition of yoga

२. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।

चित्त की वृत्तियों का रुक जाना ही योग कहा जाता है।
Yoga is the cessation of the thought waves (modifications) of the mind stuff.

३. तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।

सर्ववृत्तिनिरोधरूप योग सिद्ध हो जाने पर चितिशक्तिरूप पुरुष की चैतन्यमात्र प्रकाशस्वरूप में अवस्थिति होती है।
Then the seer rests in his Essential Nature.

४. वृत्तिसारूप्यमितरत्र।

व्युत्थानकाल में चितिशक्तिरूप पुरुष वृत्ति के स्वरूप के समान स्वरूप वाला होकर भासित होता है।
At other times the seer is identified with the thought waves.

5. वृत्तयः पंचतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः।

वृत्तियाँ पाँच प्रकार की होती हैं, उनमें से कुछ क्लेशदायक हैं और कुछ क्लेशदायक नहीं हैं।
Vritties or thought waves are of five types some are painful and others not painful.

६. प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः।

प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति, ये पाँच प्रकार की वृत्तियाँ हैं।
These are five types of varittis (thought waves)-Right knowledge ,Wrong knowledge ,Imagination ,Sleep and memory.

७. प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि।

प्रत्यक्ष अनुमान और आगम ये तीन प्रमाण हैं।

Direct perception, Inference and Testimony are the types of right knowledge.

८. विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्।

पदार्थ के यथार्थरूप में स्थित न रहने वाला जो मिथ्याज्ञान है वह विपर्यय कहलाता है।

Viparyaya is the false knowledge which is not established in the right form of the object.

९. शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः।

जो वृत्तिज्ञान वस्तु के शून्य अर्थात् मिथ्यापदार्थ विषयक हो किन्तु शब्दजन्य ज्ञान के प्रभाव से मिथ्या पदार्थ के आकार से भासित हो वह विकल्प कहलाता है।

That which follows mere words, devoid of reality, is called vikalpa or imagination.

१०.अभावप्रत्ययालम्बना वृत्ति र्निद्रा।

जाग्रत्स्वप्नपदार्थविषयक वृत्तियों के कारण सत्त्वगुण तथा रजोगुण के आवरण वाली वृत्ति निद्रा कहलाती है। (इसी का दूसरा नाम सुषुप्ति है।)

Sleep is that function of the mind which sustains the absence of all knowledge.

११. अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः।

अनुभव किये गये विषयों का फिर से चित्त में आरोहपूर्वक जो अनुभवमात्रविषयक चित्तवृत्ति है वह स्मृति कहलाती है।

Memery is the recollection of an object already experienced, without any distortion.

१२. अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।

तत्त्वज्ञान के अभ्यास से तथा विषयों के वैराग्य से पूर्वोक्त चित्तवृत्तियों का निरोध होता है।

These Virtties are controlled by practice and dispassion.

१३.तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः।

उस चित्तवृत्ति के निरोध में चित्त की स्थिरता के लिये जो यमनियमादि का अनुष्ठानरूप यत्न किया जाता है वह अभ्यास कहलाता है।

Practice is the repeated effort to secure the steadiness of the modifications of the mind.

१४. स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः।

वह अभ्यास दीर्घकाल तक व्यवधानरहित तथा श्रद्धा और भक्तिपूर्वक अनुष्ठित होकर दृढ़ अवस्था वाला होता है।

The aforementioned Abhyasa (repeated practice) when practised well without break, for a long time, and with perfect faith and devotion, becomes firmly established.

१५. दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्।

इस लोक में दृष्टिगोचर अन्नपानवनितादि विषयों से तृष्णारहित तथा वेदबोधित अमृतपान, अप्सराभोग, विदेहभाव तथा प्रकृतिलय आदि विषयों से तृष्णारहित चित्त में वशीकार नामक वैराग्य होता है।

Those who do not have hankering for objects seen in this world and objects heard of from vedas, have attained lower vairagya named Vashikara or control.

१६.तत्परं पुरूषख्याते र्गुणवैतृष्ण्यम्।

प्रकृति तथा पुरुष के भेदज्ञान का उदय होने पर जो सत्त्वगुण के कार्य विवेकज्ञान में भी तृष्णा का अभाव है। वह परवैराग्य कहलाता है।

Supreme dispassion is that state in which even the attachment to the modes of prakriti drops owing to the knowledge of the purusha(spirit).

१७. वितर्कविचारानन्दास्मितानुगमात् सम्प्रज्ञातः।

वितर्क विचार आनन्द तथा अस्मिता के सम्बन्ध से जो चित्तवृत्ति का निरोध होता है वह ध्येयाकार चिन्तन रूप भावनाविशेष सम्प्रज्ञात समाधि कहा जाता है।

Samprajnata Samadhi (lower form of superconciousness) is that which is followed by argument deliberation or reflection, joy and am-ness.

१८. विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः।

पूर्वोक्त वितर्कादि भावनारूप वृत्ति के अभाव के कारणरूप परवैराग्य के अभ्यासपूर्वक जो वृत्तिहीन संस्काररूप से चित्त का अवस्थान है वह असम्प्रज्ञात समाधि कहा जाता है।

That Asamprajnata Samadhi is another of which the practice of Virama Pratyaya (cessation of thought waves due to Para Vairagya) is the preceding state and Sanskara Shesha (residual impressons of control) is the succeeding state.

१९. भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम्।

विदेह तथा प्रकृति उपासकों को जो वृत्तिनिरोध प्राप्त होता है वह भवप्रत्यय समाधि कही जाती है।

For videha and Prakritilaya yogis, a human birth alone is enough to cause the highest Samadhi to arise.

२०.श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्।

विदेह और प्रकृतिलय योगियों से भिन्न योगियों को जो निरोध समाधि प्राप्त होती है वह श्रद्धापूर्वक, वीर्यपूर्वक, स्मृतिपूर्वक समाधिपूर्वक और प्रज्ञापूर्वक होती है।

For other yogis, the highest Samadhi is attained by the practice of faith, energy, memory, samadhi and intutive vision.

२१. तीव्रसंवेगानामासन्नः।

पूर्वोक्त साधनों में शीघ्रता और परवैराग्य में तीव्रता जब प्राप्त होती है तब समाधिलाभ और समाधि का फल शीघ्र होता है।

Those who move with the momentum of intense vairagya, attain highest samadhi quickly.

२२.मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततोऽपि विशेषः।

मृदु मध्य तथा अधिमात्र के भेद से तीन प्रकार के तीव्रसंवेग होने से अधिमात्र तीव्र संवेग वाले योगियों को उसमें भी शीघ्र समाधिलाभ होता है।

Because of the degree of intense Vairagya, being either mild, moderate or intense, yogis are differentiated into various categories.

२३. ईश्वरप्रणिधानाद्वा।

ईश्वरप्रणिधानरूप भक्तिविशेष से भी अत्यन्त शीघ्र समाधिलाभ और समाधि फल प्राप्त होते हैं।

In addition to this, by surrendering to God, one attracts the highest Samadhi.

२४.क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।

क्लेश कर्म विपाक तथा आशय से असम्बद्ध जो जीवरूप पुरुषों से उत्कृष्ट चेतन तत्त्व है वह ईश्वर है।

God is the best of all souls, and is untouched by the afflictions, karmas, fructifications of karmas and impressions of karmas.

२५. तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्।

पूर्वोक्त ईश्वर में सर्वज्ञत्व का कारणरूप ज्ञान अतिशयरहित है। अर्थात् उसमें ज्ञान की अन्तिम उन्नति है।

In God the seed of omniscience unfolds to its highest degree.

२६. पूर्वोषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।

वह ईश्वर पूर्व में उत्पन्न ब्रह्मा आदि देवों का तथा अंगिरा आदि ऋषियों का भी पिता तथा उपदेष्टा है क्योंकि वह काल की सीमा से रहित है।

God is the preceptor of even the ancient forfathers because of being unobstructed by time.

२७. तस्य वाचकः प्रणवः।

उस ईश्वर का अभिधायक शब्द ओम् है।

His name is Om.

२८. तज्जपस्तदर्थभावनम्।

उस ओंकार का जप और उसके अर्थ की भावना करना योगियों का परम कर्तव्य है।

Om should be repeated with meaning and feeling.

२९. ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च।

उस ईश्वरप्रणिधान से योग के विघ्नों का अभाव और आन्तर चैतन्यरूप आत्मा का साक्षात्कार भी होता है।

By repeating Om, obstacles are removed and knowledge of the inner self is acquired.

३०. व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्ध भूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः।

व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद ,आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व तथा अनवस्थितत्व - ये नौ चित्तविक्षेप हैं। ये ही योग के विघ्न हैं।

Disease, dullness, doubt, a procrastinating nature, laziness, lack of dispassion, false knowledge, the inabilitty to find any state of yoga, the inability to maintain a state of yoga when found cause distraction of the mind and are the obstacles.

३१.दुःखदौर्मनस्यांगमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः।

दुःख, दौर्मनस्य, अंगमेजयत्व, श्वास तथा प्रश्वास - ये पाँच पूर्वोक्त चित्तविक्षेपों के साथी हैं।

Pain, despair, trembling and irregular breathing accompany mental distractions.

३२. तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः।

उन पूर्वोक्त योगविघ्नों की निवृत्ति के लिये साधक को किसी एक तत्त्व पर अथवा ईश्वर तत्त्व का अभ्यास करना चाहिये।

To remove those obstacles and mental distractions, one should repeatedly practise meditation on one point or on God.

३३. मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्।

सुखी दुःखी पुण्यात्मा और पापात्मा पुरुषविषयक क्रमशः मित्रता दया मुदिता (हर्ष)तथा उपेक्षा (उदासीनता) की भावना से चित्त की प्रसन्नता होती है।

The mind is purified by being friendly with joyous personalities, compassionate towards to afflicted, cheerful with the virtuous and indifferent towards the evil.

३४. प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य।

प्राणवायु के रेचन तथा विधारणरूप कुम्भक के द्वारा भी चित्त की स्थिरता होती है।

Mental purity can be attained through controlling one's Prana by exhalation and retention of the breath.

३५.विषयवती वा प्रवृत्तिः मनसः स्थितिनिबन्धनी।

गन्धादि विषयों का साक्षात्कार करने वाली चित्तवृत्ति भी उत्पन्न होती हुई मन की स्थिरता का हेतु है।

When the functions of the mind pertaining to divine objects arise, they bind the mind to the state of meditation.

३६. विशोका वा ज्योतिष्मती।

शोकरहित ज्योतिष्मती प्रवृत्ति भी मन की स्थिति का हेतु है। (चित्तविषयक साक्षात्कार और अहंकार विषयक साक्षात्कार ज्योतिष्मती विशोका प्रवृत्ति कहलाते हैं।)

Or a yogi can control his mind by pursuing that luminous function of the Chitta and Ahankara.

३७. वीतरागविषयं वा चित्तम्।

वीतराग योगियों के चित्त में संयम करने से भी एकाग्र हुआ चित्त स्थिरता को प्राप्त करता है।

Or by meditating upon the minds of yogis that are devoid of attachment, one allows his mind to enter into Samadhi.

३८. स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा।

स्वप्न अवस्था में ज्ञान का विषय भगवत्प्रतिमारूप पदार्थ का अवलम्बन करने वाला अथवा सुषुप्ति अवस्था में अपने सुखमय स्वरूपभूत पदार्थ का अवलम्बन करने वाला चित्त भी स्थिरता को प्राप्त करता है।

Or by utilizing the support of the yogic knowledge of dream and sleep, a yogi can lead his mind to Samadhi.

३९. यथाभिमतध्यानाद् वा।

अथवा जिस देवता का स्वरूप योगी को अभिमत हो उसी का ध्यान करने से चित्त स्थिरता को प्राप्त करता है।

४०. परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः।

चित्त की स्थिरता प्राप्त होने पर सूक्ष्म पदार्थों में परमाणुपर्यन्त तथा स्थूल पदार्थों में परम महान् आकाश पर्यन्त इस योगी के चित्त का वशीकार हो जाता है।

As a result of the practice of meditation the mind of a yogi attains control over all objects from the smallest which is an atom and to the greatest which is space or cosmic mind.

४१.क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदंजनता समापत्तिः।

निर्मल मणि के समान राजस तामस वृत्तिरहित चित्त की जो उक्त पुरुष महतत्त्व अहंकार में, इन्द्रियों में, पंच तन्मात्र तथा स्थूल भूतादि पदार्थों में एकाग्र स्थिति प्राप्त कर इन विषयों के समान आकारता है वह सम्प्रज्ञात समाधि कही जाती है।

When the thought waves are attenuated, the mind of yogi develops a crystal like purity, he is able to focus itself as well as be identified with either Asmita or Mahat, or the subtle plane of mind and sense, or the subtle and gross objects. Then this state of mind is called Samapatti or Samprajnata Samadhi (lower Samadhi).

४२.तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः।

उन ग्रहीतृग्रहणग्राह्यविषयक तीन प्रकार की समापत्तियों में जो शब्द अर्थ तथा ज्ञानरूप विकल्पों से सम्मिलित है वह सवितर्का समापत्ति कही जाती है।

Of the lower Samadhis, when there is confusion caused by imagination among word, meaning and idea, the Samadhi is known as Savitarka.

४३. स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का।

स्मृति की परिशुद्धि होने पर अर्थात् आगम और अनुमान ज्ञान के कारण शब्दसंकेतस्मृति के दूर होने पर जो केवल ग्राह्यरूप अर्थ का ही प्रकाश करने वाली, अतएव स्वरूपशून्य के समान चित्तवृत्ति है वह निर्वितर्क समाधि कही जाती है।

With the purification of memory, the mind, as if devoid of itself, shines with the object alone. Then it is called Nirvitarka Samadhi.

४४.एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता।

इस सवितर्क तथा निर्वितर्क समापत्ति के व्याख्यान से ही सूक्ष्म भूत तथा पंचतन्मात्रविषयक सविचार तथा निर्विचार समापत्ति की भी व्याख्या कर दी गयी।

By the description of Savitarka and Nirvitarka Samadhi, the other Samadhis i.e. Savichara and Nirvichara have been explained in the same manner.

४५.सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम्।

सूक्ष्मविषयक समापत्ति के सूक्ष्मविषय में जो सूक्ष्मविषयता है वह अलिङ्गनामक प्रकृतिपर्यन्त ही है। अर्थात् सविचार तथा निर्विचार समापत्ति के सूक्ष्म विषय में जो सूक्ष्मता है वह प्रकृति तक जाकर समाप्त हो जाती है।
Subtle objectivity extends up to the nonmanifest Prakriti.

४६. ता एव सबीजः समाधिः।

वे पूर्वोक्त सवितर्कादि चारों समाधियाँ एक सबीज समाधि कही जाती हैं।
These together constitute Samadhi with seed.

४७. निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः।

निर्विचार समाधि की विशारदता प्राप्त होने पर योगी को अध्यात्मप्रसाद प्राप्त होता है अर्थात् एक ही काल में योगी को सर्वपदार्थविषयक यथार्थ ज्ञान प्राप्त होता है।
By the purification of Nirvichara Samadhi, a yogi attains intutuional knowledge.

४८.ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा।

निर्विचार समाधि के वैशारद्य काल में जो अध्यात्मप्रसाद प्राप्त होता है वह ऋतम्भरा प्रज्ञा कहलाती है।
Then the intutive intellect of a yogi becomes filled with the truth.

४९.श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात्।

वह ऋतम्भरा प्रज्ञा शास्त्रजन्य प्रज्ञा तथा अनुमानजन्य प्रज्ञा से भिन्न विषय वाली है क्योंकि उसका विषय विशेष है। अर्थात् भूतसूक्ष्म और पुरुष ये उसके विशेष विषय हैं।
This knowledge is distinct from the knowledge gained by hearing from authoritative source as well as from inference, because it is a specialized knowledge.

५०.तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी।

उस ऋतम्भरा प्रज्ञा से उत्पन्न संस्कार अन्य विक्षेपजनित व्युत्थान संस्कारों का प्रतिबन्धक है।

The impressions that are born of that Ritambhara Prajna bring about the removal of all impressions .

५१.तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः।

परवैराग्य के अभ्यास द्वारा उस प्रज्ञा तथा प्रज्ञासंस्कार का निरोध होने पर सर्व संस्कारों का निरोध होने से जो समाधि प्राप्त होती है वह निर्बीज समाधि कही जाती है।

When even these inpressions of the intutive intellect have been controlled, there is a total control of all impressions, and consequently there arises the seedless Samadhi.

****

द्वितीय पाद

साधन पाद

१. तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः।

तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान इन तीनों का सम्मिलित नाम क्रियायोग है।

Austerity, study of scriptures and surrender to God constitute Kriyayogs, the yoga of purifying the mind.

२.समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च।

यह क्रियायोग समाधि की उत्पत्ति करने के लिये और क्लेशों को सूक्ष्म करने के लिये है।

This Kriyayoga is the cause of attaining success in Samadhi and in destroying the cleshas (afflictions)

३.अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः।

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश ये पाँच प्रकार के क्लेश हैं।

These are the afflictions – Ignorance, Egoism, attachment, hatred and fear of death (or clinging in life)

४.अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्।

पूर्वोक्त पांच क्लेशों में प्रथम जो अविद्या है वह प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार अवस्था वाले उत्तर के अस्मितादि क्लेशों का मूल कारण है।

Ignorance is the source of these afflictions –egoism, attachment, hatred and clinging in life. They exist in four states- dorment attenuated, over powered and fully expended.

५.अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या।

अनित्य अशुचि दुःख तथा अनात्म पदार्थों में जो क्रमशः नित्य शुचि सुख तथा आत्मबुद्धि है वह अविद्या कही जाती है।

Ignorance consists of taking the non-eternal to be the eternal, the impure to be the pure , the painful to be the pleasant and the not self to be the self.

६. दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता।

दृक्शक्ति पुरुष और दर्शनशक्ति बुद्धि की जो अभिन्नता न होने पर भी अभिन्नता जैसी प्रतीति होती है वह अस्मिता है।

Egoism consists of the apparent oneness between the power of seer (The self or purusha) and the power of the seen (Prakriti in the form of chitta.)

७. सुखानुशयी रागः।

सुखभोग के पश्चात् अन्तःकरण में रहने वाला जो अभिलाष विशेष है वह राग कहा जाता है।

Attachment is that which follows happiness.

८. दुःखानुशयी द्वेषः।

दुःखभोग के पश्चात् अन्तःकरण में रहने वाला जो क्रोध है वह द्वेष कहलाता है।

Hatred is that which follows pain.

९. स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढो ऽभिनिवेशः।

पूर्वजन्म के मरणविषयक अनुभवजन्य वासना के बल से स्वभावसिद्ध, अज्ञानियों के समान विद्वानों के चित्त में भी पाया जाने वाला मृत्युभय है वह अभिनिवेश कहलाता है।

Abhinivesha, the affliction of clinging to life, exists equally in the learned as in the dull-witted, since it flows with spontaneity from past lives.

१०. ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः।

वे पूर्वोक्त पंच क्लेश क्रियायोग के द्वारा सूक्ष्म हुए तथा प्रसंख्यान अग्नि के द्वारा दग्ध हुए, असम्प्रज्ञात समाधिरूप प्रतिप्रसव के द्वारा निरोध करने योग्य हैं।

Having brought the kleshas to their subtle form, they are to be destroyed by Asamprajnata Samadhi.

११.ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः।

जो क्लेश चित्त में स्थूल रूप से स्थित हैं तथा बीजभाव से युक्त हैं उन क्लेशों की वृत्तियाँ ध्यानरूप प्रसंख्यान अग्नि से हेय हैं।

The kleshas, along with their functions are to be controlled by the practice of meditation.

१२. क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः।

शुभाशुभ कर्मानुष्ठान से जन्य जो धर्माधर्मरूप अथवा पापपुण्यरूप कर्माशय हैं उनका मूल अविद्यादि क्लेश हैं। उनमें से कुछ कर्माशय इसी जन्म में फल देने वाले होते हैं और कुछ जन्मान्तर में फल प्रदान करते हैं।
With the Kleshas as the root, the karmic impressions give rise to fruits of pleasure and pain that are to be enjoyed in the present birth as well as in future births.

१३. सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः।

धर्माधर्मरूप कर्माशय के मूलभूत कारण अविद्यादि क्लेशों के विद्यमान रहने पर ही उन धर्माधर्मरूप कर्माशय के सुखदुःख फल प्राप्त होते हैं। वे फल तीन प्रकार के हैं जाति(जन्म), आयु (जीवनकाल) और भोग (सुखदुःख का साक्षात्कार)।
While the root is there, the receptacle of karma brings forth class, life and enjoyment.

१४. ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात्।

वे जन्म आयु भोगरूप विपाक सुखदुःख रूप फल देने वाले हैं।
They (class life and enjoyment) give rise to the fruits of pleasure and pain because of virtue and vice.

१५.परिणामतापसंस्कारदुःखै र्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः।

परिणामदुःख तापदुःख तथा संस्कारदुःख से मिश्रित होने से तथा सत्त्वादि गुणों की वृत्तियों में विरोध होने से विवेकज्ञान युक्त योगी को विषयसुख भी सब दुःखरूप ही है।
Misery is implied in all pleasures because of the consequence, feverish effort and formation of impressions, and also because of the mutual conflict that exists among the modes of Nature. Thus all pleasures are indeed painful for the wise.

१६. हेयं दुःखमनागतम्।

भविष्य में उत्पन्न होने वाला दुःख त्याग करने योग्य है।
Pain that has not yet come is fit to be destroyed.

१७.द्रष्टृदृश्यसंयोगो हेयहेतुः।

द्रष्टा पुरुष और दृश्य बुद्धि का जो अविवेककृत सम्बन्ध है वही दुःख का कारण है।

The contact between Seer and seen is the cause of pain to be abandoned.

१८. प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम्।

जो प्रकाशस्वभाव सत्त्वगुण, क्रियास्वभाव रजोगुण तथा स्थितिस्वभाव तमोगुण है, जो आकाशादि भूत तथा श्रोत्रादि इन्द्रियस्वरूप होने से भूतेन्द्रियस्वरूप है और जो पुरुष के भोग तथा मोक्ष के लिये है वह त्रिगुणात्मक प्रकृति दृश्य है।

The seen is of the nature of light (Sattva) activity (Rajas) and inertia (Tamas) and consists of the elements and the senses. It exists for the purpose of giving enjoyment and liberation to the soul.

१९.विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि।

विशेष अविशेष लिङ्ग और अलिङ्ग ये चार गुणों के पर्व हैं।(पंचमहाभूत, पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंच कर्मेन्द्रिय और मन ये सोलह तत्त्व विशेष हैं। पंच तन्मात्र अविशेष हैं। बुद्धि लिङ्ग है और प्रकृति अलिङ्ग कहलाती है।

These are the stages of the modes of Nature- Defined, undefined, with mark and without mark.

२०. द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः।

वृत्तिज्ञानादि समस्त धर्मों से रहित जो चैतन्यमात्र पुरुष है वह द्रष्टा कहा जाता है। वह यद्यपि शुद्ध है अर्थात् वृत्तिज्ञान से रहित है फिर भी अविवेक के कारण प्रत्यय अर्थात् वृत्तिज्ञान को अपने में देखने वाला है।

The seer is pure consciousness, but though pure, it follows the thought waves of the chitta through identification.

२१.तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा।

दृश्य प्रकृति का स्वरूप उस द्रष्टा पुरुष के लिये ही है।

The nature of the seen exists for the purpose of the seer alone.

२२.कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात्।

वह दृश्य विवेकज्ञानयुक्त पुरुष के प्रति नाश को प्राप्त होता हुआ भी नष्ट नहीं होता है क्योंकि वह विवेकी और अविवेकी सभी के लिये साधारण है।

Though destroyed for him who has attained Liberation, Prakriti is not yet destroyed for others because it is common to them.

२३.स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः।

स्वशक्ति दृश्यरूप बुद्ध्यादि और स्वामिशक्ति पुरुष के स्वरूप की उपलब्धि का जो हेतु है वह संयोग कहा जाता है।

Contact is meant for discovering the power of its own Nature or Prakriti, and the power of the Lord. (Spirit or Purusha)

२४.तस्य हेतुरविद्या।

उस संयोग का जो हेतु है वह अविद्या है।

Ignorance is the cause of this contact.

२५.तदभावात् संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम्।

उस अविद्या का नाश हो जाने पर बुद्धि और पुरुष के संयोग का जो अभाव हो जाता है वह हान कहा जाता है और यह हान ही पुरुष का कैवल्य है।

With the removal of ignorance, there is the end of contact, this is known as the Liberation of the seer.

२६.विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः।

मिथ्याज्ञानरूप विप्लव से रहित प्रकृति-पुरुष का भेदज्ञान ही उस हानरूप कैवल्य का उपाय है।

Unobstructed development of intuitive knowledge is the means for the cessation of pain.

२७. तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा।

विवेकख्याति प्राप्त योगी को जो सर्वोत्कृष्ट प्रज्ञा प्राप्त होती है वह विषयभेद से सात प्रकार की है।

At the final stage, the wisdom of a yogi who has practiced unobstructed intuitive knowledge is of seven types.

२८.योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः।

यमनियमादि योग के अंगों के अनुष्ठान से अविद्यादि क्लेश तथा शुक्लकृष्णादि कर्मों की अशुद्धि के नष्ट हो जाने पर विवेकख्याति के उदय पर्यन्त यथार्थ ज्ञान की अभिव्यक्ति होती है।

By the practice of eight limbs of yoga, the impurities of the chitta are destroyed, consequently the light of knowledge begins to grow until intuitive knowledge is attained.

२९.यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि।

यम नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान तथा समाधि ये असम्प्रज्ञात समाधिरूप योग के आठ अंग हैं।

These are the eight limbs of yoga- yama (Restraints), Niyama (Observance), Asana (Poses), Pranayama (breathing exercises) Pratyahara (Withdrawal of senses), Dharana (Concentration), Dhyana (Meditation), and Samadhi (Super consciousness.)

३०.अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।

अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह ये पांच यम कहलाते हैं।

These are the restraints (Yamas), non-violence, Abstinence from falsehood, Non stealing, Abstinence from sexpleasure (Sex sublimation) and Non covetousness.

३१:जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्।

पूर्वोक्त पाँच यम जब जाति देश काल और समय की सीमा से रहित होकर सार्वभौम हो जाते हैं तब इनका नाम महाव्रत होता है।

These Yamas or restraints become great universal Vows when they are not limited by class, place , time and circumstance.

३२.शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।

शौच सन्तोष तप स्वाध्याय तथा ईश्वरप्रणिधान ये पाँच नियम कहलाते हैं।

These are the ethical observance (Niyamas) 1. Purity, 2.Contentment, 3.Austerity, 4.Study of scriptures and 5.Surrender to God.

३३.वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्।

हिंसादि वितर्कों से बाध प्राप्त होने पर प्रतिपक्ष अर्थात् अहिंसादि प्रतिपक्ष की भावना करनी चाहिये।

When wrong mentations obstruct yamas and Niyamas, one should adapt the mind to the contrary process of thought.

३४.वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनाम्।

हिंसा अनृत स्तेय स्त्रीगमन तथा परिग्रहरूप वितर्क कृत कारित तथा अनुमोदित भेद से तीन तीन प्रकार के हैं। लोभपूर्वक क्रोधपूर्वक तथा मोहपूर्वक किये जाने से इनके पुनः तीन भेद हो जाते हैं। मृदु मध्य तथा अधिमात्र के भेद से इनके पुनः तीन तीन भेद हो जाते हैं। (इस प्रकार वितर्क 27 प्रकार के हैं।) ये सभी दुःख तथा अज्ञानरूप अनन्त फल देने वाले हैं।

Violence and others constitute the Vitarka or wrong mentations. They are either directly performed or are caused to be performed by others or are merely permitted and encouraged. These Vitarkas are further joined with either anger greed or delusion, and are either dull, moderate or intense. They give rise to endless pain and ignorance. Thus reflecting, an aspirant should take recourse to Pratipaksha Bhavana or to adapting the mind to a contrary positive thought.

३५.अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः।

योगियों की अहिंसा विषयक स्थिति होने पर उस योगी के निकट आने पर नैसर्गिक विरोधी प्राणियों का भी वैरभाव निवृत्त हो जाता है।

When non violence is perfected, a yogi acquires the power of subduing animosity in his proximity.

३६.सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्।

सत्यविषयक प्रतिष्ठा प्राप्त होने पर योगी आशीर्वाद द्वारा अथवा शाप द्वारा किसी भी पुरुष को स्वर्गनरकादि फल प्राप्त कराने में समर्थ हो जाता है।

By being established in Truthfulness, a yogi acquires the power of achieving the fruit of whatever action he performs.

३७.अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्।

अस्तेयविषयक प्रतिष्ठा प्राप्त होने पर सर्वप्रकार के रत्नों की उपस्थिति योगी को होती है।

When a yogi is established in non stealing, he acquires the power of attracting all wealth to himself.

३८.ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः।

ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा योगी के चित्त में होने पर योगी को सर्वप्रकार की शक्तिविशेष का लाभ होता है।

By being established in control over the sex energy, a yogi acquires the abundant energy.

३९.अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः।

अपरिग्रह में योगी की निष्ठा होने पर योगी को भूत तथा भावी जन्मों की प्रकारता का ज्ञान हो जाता है।

By attaining perfection in non-covetousness, a yogi acquires the knowledge of past and future births.

४०.शौचात्स्वांगजुगुप्सा परैरसंसर्गः।

पूर्णतया शौच के अनुष्ठान से अपने शरीर के अंगों में ग्लानि उत्पन्न होती है तथा अन्य पुरुष के संसर्ग का अभाव होता है।

By the perfection of shaucha (external purity) one develops dispassion towards one's own body and towards the bodies of others.

४१.सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च।

केवल इतना ही नहीं किन्तु शौच निष्ठा का और भी फल है। जैसे सत्त्वशुद्धि, सौमनस्य, एकाग्रता, इन्द्रियजय तथा आत्मदर्शन योग्यता ये पाँच फल होते हैं।

Mental purity gives rise to purity of heart, cheerfulness, one pointedness, control of the senses, and the ability to attain self-realization.

४२.सन्तोषादनुत्तमः सुखलाभः।

सन्तोषनिष्ठा प्राप्त होने पर जिससे कोई अन्य उत्तम न हो ऐसा सुख प्राप्त होता है।

By being established in contentment, a yogi enjoys unique and unparalleled bliss.

४३.कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः।

तप का अनुष्ठान करते हुए तपोनिष्ठा प्राप्त होने पर तमोगुणजन्य अशुद्धि नामक आवरण रूप मल के नष्ट होने से योगी को शरीर और इन्द्रियों की सिद्धि प्राप्त होती है।

When austerity is perfected, impurities are destroyed and perfections arise in the body and senses.

४४.स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः।

स्वाध्यायनिष्ठा प्राप्त होने पर अपने अभिमत देवता का साक्षात्कार होता है।

By attaining perfection in Swaddhyaya (study of scriptures and repetition of Mantra) a yogi develops the ability to commune with one's chosen Deity as well as with Sages and saints.

४५.समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्।

ईश्वरप्रणिधान से समाधि की सिद्धि प्राप्त होती है।

By surrendering to God or when the practice of divine surrender becomes established, a yogi develops success in attaining Samadhi.

४६.स्थिरसुखमासनम्।

जिसके द्वारा स्थिरता तथा सुख पुरूष को प्राप्त होता है वह आसन कहा जाता है।

A seated pose for meditation that is steady and comfortable is called Asana.

४७.प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम्।

शरीर की स्वाभाविक चेष्टा को शिथिल करने से तथा अनन्त नामक भगवान् शेषनाग पर चित्त को एकाग्र करने से आसन सिद्ध होता है।

By letting go one's effort and by meditating upon infinity, a meditative pose is rendered steady.

४८.ततो द्वन्द्वानभिघातः।

पूर्वोक्त आसन सिद्ध होने पर योगी शीतोष्णादि द्वन्द्वों से पीडित नहीं होता है।

By perfecting Asana, a yogi is not affected by the pairs of opposites.

४९.तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः।

उस पूर्वोक्त आसन के पूर्णतया सिद्ध हो जाने पर श्वास-प्रश्वास की स्वाभाविक गति का विच्छेद प्राणायाम कहा जाता है।

Having perfected Asana, when the movements of inhalations and exhalations of breath are mastered, it is called Pranayama.

५०.बाह्यभ्यन्तरस्तम्भवृत्ति र्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः।

वह प्राणायाम बाह्यवृत्ति आभ्यन्तरवृत्ति तथा स्तम्भवृत्ति के भेद से तीन प्रकार का है और वह देश काल तथा श्वास-प्रश्वास की संख्या से परीक्षित होता हुआ दीर्घ तथा सूक्ष्म हो जाता है।

These three Pranayamas – internal external and retention, are practised with relation to space time and number, and sustained practice of Pranayams leads to the subtlety of breath.

५१.बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः।

बाह्य विषय और आभ्यन्तर विषय का उल्लंघन करने वाला प्राणायाम रेचक पूरक कुम्भक इन तीनों प्राणायामों की अपेक्षा चतुर्थ प्राणायाम कहा जाता है।

The fourth Pranayam is that wherein the references of internal and external are renounced.

५२.ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्।

प्राणायाम के अनुष्ठान से विवेकख्यातिरूप प्रकाश के आवरणरूप अविद्यादि का नाश हो जाता है।

By that practice of Pranayama,the veil that hides the light of wisdom is destroyed.

५३.धारणासु च योग्यता मनसः।

प्राणायाम के अभ्यास से ही धारणाओं में मन की योग्यता प्राप्त होती है।
And also the mind in an individual attains fitness for various concentration exercises through the practice of Pranayama.

५४.स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः।

अपने अपने विषयों के साथ सन्निकर्ष का अभाव होने पर इन्द्रियों का चित्त के रूप के समान ही रूप हो जाना प्रत्याहार कहलाता है।
When the senses are detected from their respective objects and become as if of the nature of the chitta, it is called Pratyahara.

५५.ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम्।

पूर्वोक्त प्रत्याहार की प्राप्ति से इन्द्रियों की सर्वोत्कृष्ट वशीकारता प्राप्त हो जाती है।

By that perfection of Pratyahara a yogi attains absolute mastery over the Indriyas.

****

तृतीय पाद

विभूति पाद

१.देशबन्धश्चित्तस्य धारणा।

चित्त का किसी हृदयादि देश के साथ जो सम्बन्ध है वह धारणा कही जाती है।
Concentration is binding the chitta to a place or object.

२.तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।

उस हृदयादि देशरूप विषय में जो ध्येयाकार चित्तवृत्ति की एकाग्रता है वह ध्यान कहा जाता है।
In that object of concentration, when the Vritti (thought wave) of the mind flows on continuously , it is known as meditation.

३.तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।

वही ध्यान जब ध्येयस्वरूपमात्र का प्रकाशक और अपने ध्येयाकार रूप से रहित जैसा हो जाता है तब वह समाधि कहा जाता है।
That meditation itself becomes Samadhi (Super consciousness) when the object alone shines and the mind loses itself, as it were, in the object of meditation.

४.त्रयमेकत्र संयमः।

धारणा ध्यान तथा समाधि इन तीनों का एक विषय में सम्मिलित अभ्यास संयम कहलाता है।
These three concentration meditation and Samadhi together are called Samyama.

५.तज्जयात् प्रज्ञालोकः।

यथोक्त संयम के जय से समाधिप्रज्ञा का आलोक प्राप्त होता है।
By conquering that Samadhi a yogi attains the light of intuition.

६.तस्य भूमिषु विनियोगः।

उस संयम का सवितर्क निर्वितर्क सविचार और निर्विचार इन चार अवस्थाओं में विनियोग अर्थात् सम्बन्ध होता है।
ı is to be used towards the different states (Plane)

७.त्रयमन्तरंगं पूर्वेभ्यः।

धारणा ध्यान तथा समाधि ये तीन अंग पूर्व के यम नियमादि पाँच अंगों की अपेक्षा अन्तरंग साधन हैं।

These three (concentration, meditation and Samadhi) are internal with reference to the preceding one (Yamas etc.)

८.तदपि बहिरंगं निर्बीजस्य।

धारणा ध्यान तथा समाधि ये तीनों साधन सम्प्रज्ञात समाधि के अन्तरंग साधन होते हुए भी असम्प्रज्ञात निर्बीज समाधि के बहिरंग साधन ही हैं।

Even these (concentration, meditation and Samadhi) are external means for the attainment of seedless Samadhi.

९.व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोध परिणामः।

व्युत्थानसंस्कार तथा निरोधसंस्कारों का जो क्रमशः तिरोभाव और आविर्भाव है, उनके साथ निरोधकालिक चित्त का जो सम्बन्ध है वह निरोधपरिणाम कहा जाता है।

The suppression of the outgoing impression of lower Samadhi and the emergence of the impression of control (of higher Samadhi), such is the moment when the chitta becomes involved in the modifications of control.

१०.तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात्।

निरोध संस्कार के अभ्यास से निरुद्ध अवस्था वाले चित्त की प्रशान्तवाहिता स्थिति होती है। अर्थात् उस काल में निरोधसंस्कार ही धाराप्रवाहरूप से स्थित रहते हैं।

The chitta attains the state of peaceful flow by the force of the impressions of control.

११.सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः।

विक्षिप्तता का क्षय और एकाग्रता का उदय होना चित्त का समाधिपरिणाम कहलाता है।

When the all sidedness of the chitta disappears and the state of one pointedness appears, the chitta is said to undergo modification of Samadhi.

१२.ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः।

उसके पश्चात् जब विक्षिप्तता का पूर्णरूप से क्षय हो जाता है तब अतीत तथा वर्तमान दोनों वृत्तियों का समानविषयक होना एकाग्रता परिणाम कहलाता है। अर्थात् एकाग्रता ही अतीतकाल में और एकाग्रता ही वर्तमानकाल में हो तो यह एकाग्रता परिणाम है।

Then as the rising and subsiding of the thought waves become similar, the chitta undergo Ekagrata Parinama (modification of one pointed ness).

१३.एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः।

इस पूर्वोक्त चित्तपरिणाम से भूत तथा इन्द्रियों में भी धर्मपरिणाम लक्षणपरिणाम तथा अवस्थापरिणाम की व्याख्या कर दी गयी।

By this (what has been explained in the previous sutra), the Dharma, Lakshana , and Avastha Parinama, pertaining to the elements and senses have been explained.

१४.शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी।

भूत वर्तमान तथा भविष्यत्रूप अवस्था वाले सकल कार्यों में जो सर्वदा अनुगत हो वह धर्मी कहलाता है।

Dharmi (Basic stuff) is implied as a basis for the past present and future Dharmas (properties)

१५.क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः।

क्रम का भेद परिणाम के भेद में हेतु होता है।

The difference in modification is due to the difference in the succession of changes.

१६.परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम्।

धर्म लक्षण तथा अवस्था इन तीनों परिणामों में संयम करने से अतीत और अनागत पदार्थों का साक्षात्कारात्मक ज्ञान योगी को होता है।

By practising Samyama on the three modifications, one attains the knowledge of past and future.

१७.शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात्संकरस्तत्प्रविभागसंयमात्सर्वभूतरुतज्ञानम्।

शब्द अर्थ तथा ज्ञान इन तीनों का परस्पर अध्यास होने से ये तीनों एक दूसरे से मिश्रित प्रतीत होते हैं किन्तु वास्तविक मिश्रित नहीं हैं। अतः उन तीनों के विभाग में संयम करने से पशु पक्षी आदि समस्त प्राणियों के शब्दों का ज्ञान होता है।

Due to the mutual identification of word meaning and idea, these are confused, but by practising Samyama on the differences of these, a yogi attains the knowledge of the sounds of all living beings.

१८.संस्कारसाक्षात्करणात् पूर्वजातिज्ञानम्।

संयम द्वारा संस्कार का साक्षात्कार करने से पूर्वजन्म का ज्ञान होता है।

By discovering the impression, one attains the knowledge of previous births.

१९.प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम्।

अन्य पुरुष के चित्त में संयम करने से अन्य पुरुष के चित्त का ज्ञान होता है।
By practising Samyama on the minds of others, one attains the knowledge of their minds.

२०.न च तत्सालम्बनं तस्याविषयीभूतत्वात्।

योगी को जिस परचित्त का ज्ञान होता है वह सालम्बन नहीं होता क्योंकि वह उसका विषय नहीं होता।(अर्थात् योगी को यह ज्ञान नहीं होता कि उसके चित्त में किसके प्रति राग है या द्वेष है, बस इतना ही ज्ञान होता है कि उसका चित्त रागयुक्त है या द्वेषयुक्त है।
But not the contents of anothers mind, because that is not the object of one's Samyama.

२१.कायरूपसंयमात्तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुःप्रकाशा - सम्प्रयोगेऽन्तर्धानम्।

अपने शरीर के रूप में संयम करने से उस रूप में जो अन्य पुरुष के चक्षु से देखने योग्य ग्राह्यशक्ति है उसके रुक जाने से अन्य पुरुष के चक्षुजन्य प्रकाश से योगी के शरीर का संयोग न होने से योगी के शरीर का अन्तर्धान हो जाता है। अर्थात् कोई उसको देख नहीं सकता।
By performing Samyama on the form of the body, when its power of being perceived is checked, the light of the eyes is dissociated from the form and thereby the yogi disappears.

२२.सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म तत्संयमादपरान्तज्ञानमरिष्टेभ्यो वा ।

आयु के विपाकरूप पूर्वकृत कर्म दो प्रकार के हैं- सोपक्रम अर्थात् शीघ्रफलप्रद और निरुपक्रम अर्थात् कालान्तर में विलम्ब से फलप्रद। इन दोनों प्रकार के कर्मों में संयम करने से योगी को मरण का ज्ञान होता है। अथवा अरिष्टों से भी मृत्यु का ज्ञान होता है।
By performing Samyama on actions that are quick in fructification and actions that are slow in fructification, a yogi determines the time of his death, or does by stydying the portents.

२३.मैत्र्यादिषु बलानि।

मैत्री करुणा तथा मुदिता में संयम करने से क्रमशः मैत्रीबल करुणाबल तथा मुदिताबल की प्राप्ति होती है।
By performing Samyama on friendliness etc. one acquires the strength corresponding to the virtue.

२४.बलेषु हस्तिबलादीनि।

हस्ती आदि के बलविषयक संयम करने से योगी को हस्तिबल आदि की प्राप्ति होती है।

By performing Samyama on various forms of strength, such as that of an elephant, one attains the corresponding strength of elephant etc.

२५.प्रवृत्त्यालोकन्यासात् सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम्।

ज्योतिष्मती प्रवृत्ति के आलोक में संयम करने से योगी को सूक्ष्म व्यवहित तथा दूरस्थ पदार्थों का ज्ञान होता है।
By performing Samyama on the light of Jyotishmati Pravritti , one acquires the knowledge of what is subtle hidden and distant.

२६.भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्।

सूर्य में संयम करने से योगी को निखिल भुवनों का ज्ञान होता है।
By performing Samyama on the sun, one acquires the knowledge of universe.

२७.चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम्।

चन्द्रमा में संयम करने से ताराओं के समूह का ज्ञान योगी को होता है।
By performing Samyama on the moon, one acquires the knowledge of galaxies of stars.

२८ ध्रुवे तद्गतिज्ञानम्।

ध्रुव नामक निश्चल ज्योति में ध्यान करने से समस्त ताराओं की गति का ज्ञान योगी को होता है।
By performing Samyama on the polestar, one acquires the knowledge of movement of the stars.

२९.नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम्।

नाभिचक्र में संयम करने से योगी को शरीर के वातादि दोष तथा लोहितादि धातुओं के समूह का ज्ञान होता है।
By performing Samyama on the navel centre (solar plexus or Manipura chakra), one acquires the knowledge of the body.

३०.कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः।

कण्ठकूप में संयम करने से क्षुधा पिपासा की निवृत्ति होती है।
By performing Samyama on the pit of the throat, one acquires the mastery over the hunger and thirst.

३१.कूर्मनाड्यां स्थैर्यम्।

कण्ठकूप से नीचे स्थित कूर्मनाडी में संयम करने से स्थिरता की प्राप्ति होती है।

By performing Samyama on koorma Nadi(the vital channel resembling the form of a tortoise below the throat), one acquires steadiness of the body.

३२.मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम्।

मूर्धज्योति में संयम करने से सिद्ध पुरुषों का दर्शन होता है।
By performing Samyama on the light at the crown of the head, one beholds the siddhas(the perfected beings or the sages and Gods.)

३३.प्रातिभाद् वा सर्वम्।

तारक ज्ञान का नाम प्रातिभ ज्ञान है। उसमें संयम करने से समस्त पदार्थों का ज्ञान होता है।
All this is attained by intuitional light.

३४.हृदये चित्तसंवित्।

हृदयदेश में संयम करने से अपने और दूसरे के चित्त का ज्ञान होता है।
By performing Samyama on the heart, one acquires the knowledge of the mind stuff.

३५.सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासंकीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः परार्थात् स्वार्थसंयमात्पुरुषज्ञानम्।

बुद्धि और पुरुष अत्यन्त भिन्न हैं। उन दोनों में जो ऐक्य प्रतीति होती है उसका नाम भोग है। वह भोग बुद्धि का धर्म होने से परार्थ है। उस परार्थ से भिन्न जो पौरुषेय बोधरूप स्वार्थज्ञान है उस स्वार्थज्ञान में संयम करने से चेतनमात्र पुरुष का ज्ञान होता है।
The chitta(mind stuff) and the purusha (spirit) are totally different, but the perception of the identity of both constitute enjoyment (or experience). By meditating upon the perception of the self different from that of the not self , one attains the knowledge of the spirit(The self).

३६.ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ता जायन्ते।

उस स्वाभाविक संयम से प्रातिभ (दिव्य मानस ज्ञान), श्रावण(दिव्य श्रोत्रजन्य ज्ञान), वेदन (दिव्य त्वक् ज्ञान), आदर्श(दिव्य चाक्षुष ज्ञान), आस्वाद (दिव्य रसना ज्ञान), तथा वार्ता (दिव्य घ्राणज ज्ञान) नामक सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।
By practising Samyama on the self one develops the intuitive mind through which the supersensory perception of sound, touch sight taste and smell are developed .

३७.ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः।

वे पूर्वोक्त प्रातिभ आदि ऐश्वर्य असम्प्रज्ञात समाधि में विघ्नरूप हैं, केवल व्युत्थानकाल में ही सिद्धियाँ कहलाते हैं।

They (the supersensery perception described in Sutra 36) are obstacles to the practice of Asamprajnata Samadhi (the highest Samadhi), only at the time of outgoing mind are called Siddhis.

३८.बन्धकारणशैथिल्यात् प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः।

संयम द्वारा चित्त के बन्ध के कारणभूत धर्माधर्म के शिथिल हो जाने से तथा चित्त की गति के ज्ञान से चित्त का अन्य के शरीर में प्रवेश हो जाता है।

By relaxing the cause of bondage and by knowing the process of movement, one's chitta Astral body) is enabled to enter into another's body.

३९.उदानजयाज्जलपंककण्टकादिष्वसंग उत्क्रान्तिश्च।

उदान वायु के जय से जल पंक तथा कण्टकादियुक्त स्थलों पर योगी का सम्बन्ध नहीं होता, अर्थात् वह जल पंक तथा कण्टक पर भी चल सकता है तथा उसका उत्तरायण मार्ग से उर्ध्वगमन होता है।

By conquering Udana through the practice of Samyama, a yogi is not affected by water, mud, thorns etc. and he attains an upward movement after his death.

४०.समानजयाज्ज्वलनम्।

समान वायु में संयम करने से योगी का शरीर अग्नि के समान दीप्तिमान् होता है।

By conquering Samana through the practice of Samyama, a yogi gains mystic effulgence in his body.

४१.श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धसंयमाद्दिव्यं श्रोत्रम्।

श्रोत्रेन्द्रिय और आकाश के सम्बन्ध में संयम करने से श्रोत्रशक्ति दिव्य हो जाती है।

By practising Samyama on the relation between the ear-sense and the ether element, one acquires the power of supersensory hearing.

४२.कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमाल्लघु तूल समापत्तेश्चाकाशगमनम्।

शरीर और आकाश के सम्बन्ध में संयम करने से तथा लघु तूलादि विषयक समाधि से योगी आकाश में गमन करने की शक्ति प्राप्त करता है।

By practising Samyama upon the relationship between body and ether, and by identifying with the lightness of cotton and the like, a yogi acquires the power of flying in the sky.

४३.बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशावरणक्षयः।

शरीर के बाहर शरीर की अपेक्षारूप कल्पना से रहित चित्त की जो वृत्ति है वह महाविदेहा धारणा कहलाती है। उस महाविदेहा नामक धारणा से प्रकाशरूप बुद्धि के आवरण रूप क्लेश कर्म विपाक का क्षय हो जाता है।

The perception of mind existing outside the body without any imagination is called the great bodiless state, and this removes the veil of ignorance which obstruct the light of wisdom.

४४.स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद् भूतजयः।

आकाशदि महाभूतों के अवस्थाविशेष स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय और अर्थवत्त्व हैं। इनमें संयम करने से भूतजय नामक सिद्धि प्राप्त होती है।

(महाभूतों के शब्दादि धर्म स्थूल कहलाते हैं। महाभूतों के अपने अपने सामान्य धर्म स्वरूप कहे जाते हैं। पंचतन्मात्रों को सूक्ष्म कहा जाता है। तीनों गुणों का नाम अन्वय है और भोग तथा अपवर्ग अर्थवत्त्व कहलाता है।)

By practising Samyama on the gross form , the basic nature, the subtle form, the qualities and the purposefulness of the elements, one acquires mastery over them.

४५.ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसम्पत्तद्धर्मानभिघातश्च ।

भूतजय होने से अणिमादि अष्ट सिद्धियों का प्रादुर्भाव होता है। शरीर दर्शनीयता कान्ति बल आदि सम्पत्ति से युक्त होता है तथा भूतधर्मों का अभिघात योगी को नहीं होता ।

By mastering the elements, a yogi acquires Siddhis known as Anima etc., and develops perfection of the body, unobstructed by the function of the elements.

४६.रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसम्पत्।

रूप, लावण्य, बल तथा वज्रशरीरत्व कायसम्पत् कहलाती है।

By practising Samyama on the senses, their nature, their sources in the form of ego centre, their analysis in the form of the three Gunas, and their purposefulness in the form of enjoyment and release, a yogi acquires mastery over them.

४८.ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च।

उस इन्द्रियजय की प्राप्ति होने से मनोजवित्व, विकरणभाव तथा प्रधानजय ये तीन सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

Thereby, by the mastering the senses , a yogi acquires the power of moving with the speed of the mind. He perceives without depending upon the physical body and its organs, and he also attains complete mastery over Prakriti or Nature.

By practising Samyama on the senses, their nature, their sources in the form of ego centre, their analysis in the form of the three Gunas, and their purposefulness in the form of enjoyment and release, a yogi acquires mastery over them.

४८.ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च।

उस इन्द्रियजय की प्राप्ति होने से मनोजवित्व, विकरणभाव तथा प्रधानजय ये तीन सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

Thereby, by the mastering the senses , a yogi acquires the power of moving with the speed of the mind. He perceives without depending upon the physical body and its organs, and he also attains complete mastery over Prakriti or Nature.

४९.सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च।

प्रकृति पुरुष के भेदज्ञाननिष्ठ चित्त वाले योगी को समस्त पदार्थों के अधिष्ठातृत्व का सर्व पदार्थों के यथार्थ ज्ञातृत्व का लाभ होता है।

By practising Samyama on the difference between the chitta and the spirit, a yogi acquires mastery over all the modifications of Nature, as well as the quality of omniscience.

५०.तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्।

उस विवेकख्याति तथा उससे प्राप्त सिBy practising Samyama on the moment and its succession, one acquires wisdom born of discrimination.

५३.जातिलक्षणदेशैरन्यतानवच्छेदात् तुल्ययोस्ततः प्रतिपत्तिः।

जाति, लक्षण और देश के द्वारा भेद का निश्चय न होने से विवेकजन्य ज्ञान से ही दो समान पदार्थों का ज्ञान होता है।

By discriminative knowledge, a yogi is able to determine the difference between two similar objects which are identical in their class, characteristics and place, and therefore, are difficult to be differentiated.

५४.तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम्।

जो ज्ञान संसारसागर से तारने वाला, सब पदार्थों को विषय करने वाला, सब प्रकार से समस्त पदार्थों को विषय करने वाला तथा बिना क्रम के एक काल में उत्पन्न होने वाला है वह ज्ञान विवेकजन्य ज्ञान कहलाता है।

This wisdom born of intuitive intellect is all encompassing, all inter-penetrating, without succession (spontaneous) and is that which takes across the world process.

By practising Samyama on the moment and its succession, one acquires wisdom born of discrimination.

५३.जातिलक्षणदेशैरन्यतानवच्छेदात् तुल्ययोस्ततः प्रतिपत्तिः।

जाति, लक्षण और देश के द्वारा भेद का निश्चय न होने से विवेकजन्य ज्ञान से ही दो समान पदार्थों का ज्ञान होता है।

By discriminative knowledge, a yogi is able to determine the difference between two similar objects which are identical in their class, characteristics and place, and therefore, are difficult to be differentiated.

५४.तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम्।

जो ज्ञान संसारसागर से तारने वाला, सब पदार्थों को विषय करने वाला, सब प्रकार से समस्त पदार्थों को विषय करने वाला तथा बिना क्रम के एक काल में उत्पन्न होने वाला है वह ज्ञान विवेकजन्य ज्ञान कहलाता है।

This wisdom born of intuitive intellect is all encompassing, all inter-penetrating, without succession (spontaneous) and is that which takes across the world process.

५५.सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्।

बुद्धि और पुरुष की शुद्धि के तुल्य हो जाने पर मोक्ष होता है।

When a yogi discovers the similarity of purity between the chitta and the purusha, he attains Liberation.

....

चतुर्थ पाद

कैवल्य पाद

१.जन्मौषधिमन्त्रतपः समाधिजाः सिद्धयः।

जन्म औषधि मन्त्र तप तथा समाधि से जन्य पाँच प्रकार की सिद्धियाँ होती हैं।
Psychic powers develop by taking recourse to birth, medicinal herbs, mystic formulas, austerity and Samadhi.

२.जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात्।

नूतन देव तिर्यक् रूप से परिणाम उपादान के अनुप्रवेश से होता है।
Because of the flow of nature, there is a transformation from one class to another.

३.निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत्।

जात्यन्तरपरिणाम में धर्मादि निमित्त प्रकृति के प्रयोजक नहीं है। अर्थात् प्रकृत्यापूर में धर्मादि निमित्त प्रयोजक नहीं होते अपितु उस धर्मादि से केवल आवरण की निवृत्ति होती है, जैसे किसान केवल जल के प्रतिबन्धक की निवृत्ति करता है।
These incidental causes, birth medicinal herbs etc. do not urge Prakriti to action, but they merely remove obstacles, even like a former.

४.निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात्।

अस्मितामात्र अर्थात् अहंकाररूप उपादान कारण से योगी अनेक निर्माण चित्तों की रचना करता है।
The transformed minds proceed from Asmita , the source of ego or the cosmic minds.

५.प्रवृत्तिभेदे चित्तमेकमनेकेषाम्।

अनेक नूतनं निर्मित चित्तों के व्यापार नाना होने पर पुरातन योगी का एक चित्त अधिष्ठानरूप से प्रेरक होता है।
The pure chitta of a yogi is one that sustains or directs the various functions of the created minds through the incidental causes.

६.तत्र ध्यानजमनाशयम्।

(जन्मौषधि तप आदि सिद्धियों के भेद से चित्त भी पाँच प्रकार का है।) उन पाँच प्रकार के चित्तों में जो समाधिजन्य चित्त है वह वासनारहित होता है।

Of these five transformations chittas, the chitta born of meditation is free of karmic impressions.

७.कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्।

योगियों के यमनियमादि कर्म अशुक्ल और अकृष्ण होते हैं तथा अयोगियों के कर्म शुक्ल,कृष्ण तथा शुक्लकृष्ण के भेद से तीन प्रकार के होते हैं।
Karma is beyond virtue and vice for the yogi, while it is of three types for others.

८.ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानाम्।

उन तीन प्रकार के कर्मों से उन कर्मफलों के अनुसार ही वासनाओं का आविर्भाव होता है।
Only those subtle desires arise that correspond to the fructification of the three types of karmas.

९.जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात्।

जाति, देश और काल से व्यवहित वासना का भी अव्यवधान ही समझना चाहिये क्योंकि स्मृति और संस्कार का विषय एक ही होता है।
Though separated by time , place , and class, yet there is a continuity in the subtle desires, because of the unity of memory and karmic impressions.

१०.तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात्।

आशीर्वाद अर्थात् इच्छा के नित्य होने से उन वासनाओं की अनादिता भी है।
The desire to exist being eternal, these subtle desires are beginningless.

११.हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वादेषामभावे तदभावः।

वासना का हेतु अविद्या है, जाति आयु और भोग ये वासना का फल हैं, चित्त आश्रय है और शब्दादि विषय उनका आलम्बन। वासना इन चारों के अधीन है। इन चारों का अभाव हो जाने पर वासना का भी अभाव हो जाता है।

These four give rise to the formulation of subtle desires- cause, fructification , receptacle and support, therefore , when these are destroyed , the Vasanas become extinct.

१२.अतीतानागतं स्वरूपतोऽस्त्यध्वभेदाद् धर्माणाम्।

अतीत और अनागत वस्तु भी स्वरूप से विद्यमान रहती है क्योंकि कालभेद से विरुद्ध धर्मों की भी विद्यमानता एक धर्मी में हो सकती है।
Since the differences in Dharmas are caused by time, they exist in the form of past and future.

१३.ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मानः।

वे वर्तमान अतीत और अनागत सभी पदार्थ त्रिगुणात्मक हैं।
All these Dharmas, whether manifest or unmanifest are of the nature of the Gunas

१४.परिणामैकत्वाद्वस्तुतत्त्वम्।

परिणाम के एक होने से गुणों का तत्त्व एक होता है।
Because of the unity of modification the distinct objects appear as such.

१५.वस्तुसाम्ये तयो र्विभक्तः पन्थाः।

चित्त के विषयीभूत स्त्री आदि पदार्थ एक होने पर भी अनेक पुरुषों के चित्त सुखदुःख मोह रूप से भिन्न होने के कारण चित्त तथा उसके विषयीभूत पदार्थ का मार्ग भिन्न भिन्न है। (विज्ञानवादियों का मत ठीक नहीं, विज्ञान से पदार्थ पृथक् है।)
In spite of the unity of the object, it is perceived differently, because of differences among the chitta's (conditioned minds), the object and the chitta both have separate ways.

१६.न चैकचित्ततन्त्रं वस्तु तदप्रमाणकं तदा किं स्यात्।

बाह्य पदार्थ किसी एक चित्तज्ञान के अधीन अस्तित्व वाला नहीं है, क्योंकि यदि ज्ञानकाल से अतिरिक्त काल में उस पदार्थ का अस्तित्व नहीं माना जायेगा तो जिस काल में वह ज्ञान रूप प्रमाण का विषय न होगा उस काल में वह क्या होगा। (भाव यह है कि ज्ञान की उत्पत्ति से पूर्व और नाश के पश्चात् बाह्य पदार्थ की सत्ता रहती है। अतः विज्ञानवाद युक्तियुक्त नहीं है।)

In addition to this, the objects are not under the control of one chitta, because, when a chitta of a person does not cognize an object, what will happen to the object?

१७.तदुपरागापेक्षित्वाच्चित्तस्य वस्तु ज्ञाताज्ञातम्।

चूँकि चित्त उस बाह्य विषय के उपराग की अपेक्षा वाला है इसलिये वह बाह्य वस्तु चित्त के द्वारा कभी ज्ञात और कभी अज्ञात होती है।
The chitta depends upon being influenced by the object, therefore, the object is either known or unknown.

१८.सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात्।

जिस चेतन पुरुष का वह विषयाकार चित्त ही विषय होता है उस चेतन पुरुष को चित्त की वृत्तियाँ सर्व समय में ज्ञात रहती हैं क्योंकि उस चित्त का स्वामी पुरुष अपरिणामी है।

The vrittis of chitta are ever known to its Lord, the self, because the latter is ever unchanging.

१९.न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात्।

वह चित्त दृश्य होने से अपना प्रकाशक नहीं हो सकता है।
The chitta is not self-luminous, being of the nature of the seen.

२०.एक समये चोभयानवधारणम्।

एक ही समय में चित्त के द्वारा विषय और अपना स्वरूप दोनों का ग्रहण करना असम्भव है।
Both, the chitta and the objects cannot be known by the chitta at one time.

२१.चित्तान्तरदृश्ये बुद्धिबुद्धेरतिप्रसंगः स्मृतिसंकरश्च।

(यदि कहो कि पूर्वक्षण के चित्त का उत्तरक्षण के चित्त के द्वारा ग्रहण हो सकता है तो) यदि अन्य चित्त के द्वारा चित्त को ग्राह्य माना जायेगा तो उस चित्त का अन्य चित्त के द्वारा ग्रहण होने से अनवस्था दोष आ पड़ेगा तथा स्मृतियों का संकर भी हो जायेगा।
By presuming that one chitta is seen by another chitta, then their will not only be an unending series of chittas of the chitta, but also confusion in memory.

२२.चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम्।

प्रतिसंक्रमरूप क्रिया से रहित पुरुष को चित्त के आकार की प्राप्ति होने पर अपने विषयभूत बुद्धि का ज्ञान होता है।
Though the Purusha (the conscious being) is free of actions and modifications, yet because of being identified with that chitta, it is able to know its own chitta

२३.द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम्।

चूँकि चित्त द्रष्टा चेतन पुरुष और दृश्य शब्दादि विषय इन दोनों से सम्बद्ध है इसलिये वह ग्रहीता ग्रहण ग्राह्यरूप सभी विषयों का ग्रहण करने वाला है।(अर्थात् आत्मा भी चित्त के द्वारा प्रकाशित होता है।
Colored by the seer and the seen, the chitta assumes all forms.

२४.तदसंख्येयवासनाभिश्चित्रमपि परार्थं संहत्यकारित्वात्।

वह चित्त असंख्य वासनाओं के द्वारा चित्रित है तो भी विषय तथा इन्द्रियादि के साथ मिलकर कार्य करने वाला होने से परार्थ अर्थात् अपने से भिन्न पुरुष के लिये भोग तथा मोक्ष का सम्पादन करने वाला है।(अर्थात् आत्मा चित्त से भिन्न है।)

Because of chitta acts in a coordinated form, though it is colored by countless subtle desires, yet it is meant for another (the Purusha).

२५.विशेषदर्शिन आत्मभावभावनानिवृत्तिः।

विशेषदर्शी अर्थात् आत्मा का साक्षात्कार करने वाले योगी की आत्मभावभावना, अर्थात् मैं कौन था, क्या था, क्या होऊंगा, इस प्रकार की भावना निवृत्त हो जाती है।

For the yogi who is endowed with intuitional vision, the various attitudes pertaining to the self are completely removed.

२६.तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम्।

विवेकख्याति के उदयकाल में विवेकज्ञाननिष्ठ योगी का चित्त विवेकमार्ग में संचार करने वाला तथा कैवल्य के अभिमुख हो जाता है।

Then the chitta of a yogi, bent low with the burden of discriminative knowledge, flows towards Kaivalya (Libration)

२७.तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः।

उस विवेकनिष्ठ समाहित चित्त के अन्तरालों में पूर्व व्युत्थानकाल के संस्कारों से अन्य प्रत्यय भी उत्पन्न होते रहते हैं।

During the intervals of Samadhi, the knowledge of other objects arises due to previous outgoing impressions.

२८.हानमेषां क्लेशवदुक्तम्।

इन व्युत्थानसंस्कारों का नाश अविद्यादि क्लेशों के नाश के समान समझना चाहिये, यह बात 'ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः' सूत्र से कही जा चुकी है।

These impressions are also destroyed, as in the case of the Kleshas, which has already been explained.before.

२९.प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः।

विवेकज्ञानरूप प्रसंख्यान में भी फल की इच्छा न रखने वाले योगी को विवेकज्ञान की प्राप्ति होने से धर्ममेघ समाधि का लाभ होता है।

The yogi who is dispassionate even towards intutional knowledge (Vivekakhyati) that arises during Sasmita Samadhi, through ceaseless flow of the same, attains Dharmamegha Samadhi.

३०.ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः।

धर्ममेघ समाधि की प्राप्ति से अविद्यादि क्लेश तथा शुक्लादि कर्म की निवृत्ति हो जाती है।

By that cloud of virtue (Dharmamegha Samadhi) the afflictions and Karmic entanglements are destroyed in their totality.

३१.तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम्।

उस काल में क्लेश कर्मरूप आवरण से रहित चित्त के अनन्त हो जाने से ज्ञेयरूप बाह्यविषय अल्प अर्थात् परिच्छिन्न हो जाता है।

Then , as a result of Dharmamegha Samadhi, when all the veils of illusion are lifted , the knowledge in a yogi becomes limitless , while the knowable is rendered little or insignificant

३२.ततः कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्ति र्गुणानाम्।

उस धर्ममेघ समाधि की प्राप्ति होने पर पुरुष के लिये भोग मोक्ष सम्पादन करके कृतार्थ हुए सत्त्वादि गुणों के कार्योत्पादनरूप परिणाम के क्रम की समाप्ति हो जाती है।

Then, after the experience of Dharmamegha Samadhi, for the yogis, who have accomplished the purpose of their existence through Liberation, the series of modifications of the Gunas cease to exist.

३३.क्षणप्रतियोगी परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमः।

अनेकक्षणसम्बन्धी तथा परिणाम के अवसान से ज्ञायमान जो पूर्वापरीभावरूप अवस्थाविशेष है वह क्रम कहलाता है।

Series (krama) is the flow of moments which are dependent upon the perception of the end of each modification.

34.पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति।

समाप्त हो गया है भोगापवर्गरूप पुरुषार्थ जिनका ऐसे कृतकार्यरूप से पुरुषार्थशून्य गुणों का प्रतिलोम रूप से अपने अपने कारणों में लय द्वारा प्रधान में लय होना है यह प्रधान का कैवल्य कहा जाता है अथवा वृत्तिसारूप्य की निवृत्ति होने पर शुद्ध स्वरूप मात्र में पुरुष का अवस्थित होना पुरुष का कैवल्य कहा जाता है।

Devoid of serving any purpose for the soul, the Gunas become involved in their own source (Prakirti) or in other words, the seer characterized by the power of consciousness becomes established in its essential nature (the self), thus end the scripture of yoga.s

....

डा० विजयपाल शास्त्री

जन्म : ३ जुलाई वर्ष १९४८ को ग्राम माधोवाला तहसील ठाकुरद्वारा जिला मुरादाबाद में जन्म हुआ।

शिक्षा : प्रारम्भिक शिक्षा पाँचवी कक्षा तक गाँव के ही प्राईमरी विद्यालय में हुई। उसके पश्चात् वर्ष १९५६ में गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर में प्रवेश लिया। वहाँ से स्नातक परीक्षा विद्याभास्कर १९६७ में उत्तीर्ण की। वहीं रहकर मेरठ विश्वविद्यालय से एम. ए. की परीक्षा संस्कृत विषय में उत्तीर्ण की। उसके पश्चात् गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय से दर्शनशास्त्र तथा हिन्दी विषय में एम. ए. उत्तीर्ण किया इसके साथ ही वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी की साहित्याचार्य तथा वेदान्ताचार्य परीक्षाएँ उत्तीर्ण की। पुनः कालान्तर में मेरठ विश्वविद्यालय से पीएच०डी० तथा डी०लिट० की उपाधियाँ प्राप्त की। पंजाब विश्वविद्यालय चण्डीगढ़ से दर्शनाचार्य की उपाधि प्राप्त की।

अध्यापन : वर्ष १९७२ से १९८० तक जनता इन्टर कालिज बाबरी जिला मुजफ्फरनगर में संस्कृत प्रवाचक पद पर कार्य किया। फिर फरवरी १९८१ में गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में दर्शन विभाग में प्रवाचक पद पर नियुक्ति हुई और तब से निरन्तर गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में ही कार्यरत हैं।

वर्तमान में : सम्प्रति गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में दर्शन विभाग में प्रोफेसर एवं अध्यक्ष पद पर कार्यरत हैं।

प्रकाशित रचनाएँ :

१. पातंजलयोगविमर्श
२. त्रिकदर्शन का समीक्षात्मक तत्त्वमीमांसीय अध्ययन
३. सांख्यायोगसूक्तिसमुच्चय
४. संस्कृतसूक्ति समुच्चय
५. बौद्ध प्रमाण मीमांसा
६. गीतार्थसंग्रह